D.El.Ed -04
Towards Self Understanding
Block I – Understanding the Self
(स्वयं की समझ)
Unit 1 – Self: Meaning and Diwensious.
इकाई 1– स्वयः अर्थ और आयाम

संरचना

1.1 परिचय
1.2 उद्देश्य
1.3 स्वयं का अर्थ एंव निर्माण
1.4 स्वयं के विभिन्न आयाम
    1.4.1 शारीरिक आयाम
    1.4.2 मानसिक आयाम
    1.4.3 संवेमात्मक आयाम
    1.4.4 सामाजिक आयाम
    1.4.5 आध्यत्मिक आयाम
1.5 स्वयः व्यक्तिगत स्व एंव सामाजिक स्वः
    1.5.1 सहयोग
    1.5.2 विवाद
1.6 स्वयं की अवधारणाः आत्म सम्मान
    1.6.1 आत्म सम्मान –अर्थ एवं परिभाषाएँ
    1.6.2 आत्म सम्मान में परिवर्तन
1.7 आत्मबोध
1.8 इकाई सारांश
1.9 निहित कार्य
1.10 चर्चा तथा स्पष्टीकरण के बिंदु
1.11 सन्दर्भ

1.1 परिचय :– स्वयं या आत्म उस प्रत्यक्षीकरण या अनुभव से है जो व्यक्ति अपने ही संबंध में करता है। किसी भी व्यक्ति में उसका आत्म सबसे प्रमुख माना गया है। जो उसके सम्पूर्ण जीवन को एक दिशा प्रदान करता है। यह व्यक्ति के विचारों पर आधारित रहता है। किसी भी सामाजिक आवश्यकता एवं लक्ष्य का संगठन इसी 'स्व' के माध्यम से होता है। मनुष्य अपनी आत्म की शक्तियों एंव अपनी कमजोरियों के साथ रहता है, वह अपने शरीर ,मन, विचारों, एंव

भावों के प्रति भी अनूक्रिया करता है, इन सभी अनुक्रियाओं के निष्कर्ष के रूप में ही आत्म संज्ञान विकसित होता है। अतः आत्म/स्व/स्वयं व्यक्तित्व का केन्द्रीय स्थान है।

1.2 उद्देश्य :– विद्यार्थी निम्नलिखित कर सकेंगे

- स्व को अर्थ का ज्ञान पायेंगे।
- स्व को लेकर विश्लेषणात्मक विकास एवं निर्माण को समझ सकेगे।
- स्वयं के विभिन्न आयामों को पायेगे।
- व्यक्तिगत स्व एंव सामाजिक स्व को समझ सकेगे।
- आत्म सम्मान कैसे विकसित किया जाता है, इसे समझेंगे।
- आत्मबोध की व्याख्या कर सकेंगे।
- स्व के विभिन्न पहलुओं का वर्णन कर सकेंगे।

1.3 स्वयं का अर्थ एंव निर्माण :– स्वयं या आत्म का अर्थ होता है किसी भी मनुष्य को स्वयं का अहसास, जिसमें वह अपने अतीत एंव भविष्य को समझता है, व अपने आस– पास के लोगो , मित्रों, सहकर्मियों , रिश्तेदारों, तथा अतिथियों को भी जानता है। उसे अपने जीवन तथा मृत्यु का भी अहसास होता है। वह अपने जीवन की निश्चित पहचान, उद्देश्य एवं अर्थ को प्राप्त करने में निरन्तर लगा रहता है। आत्म/स्वयं को अवधारणा यह है कि यह व्यक्ति की प्रक्रिया को दिशा प्रवान कर अचेतन मन के अपयोगी और रचनात्मक पक्ष को चेतन बना देता है। इससे मन की एक सकारात्मक प्रक्रिया की ओर लें जाया जाता है। जिससे आत्म विकास हो सके। यही आत्म की अवधारण भी हे। आत्म से आत्मसात् होना एक सचेतन आन्तरिक प्रयास है। इस प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य अपनी शक्तियों ,क्षमताओं, कमियों आदि को समझ सकता है। मनुष्य अपनी बाह्य क्रियाओं के प्रति भी सजग, सतर्क, जागृत तथा विवेकशील भी बन जाता है। शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों को स्वयं से परिचय कराने के लिए प्रेरित करता है तथा अपने अधिगम के लिए स्वयं जिम्मेदार बनाने के लिए तैयार करना चाहिए। कक्षा में मौजूद शिक्षार्थियों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखना जरूरी है। शिक्षार्थियों के अधिगम एंव आत्मविकास की प्रक्रिया में शिक्षक को सहायक का कार्य करना चाहिए।

स्वयं की परिभाषाएंः–

1. जेम्स ड्रेवर (1986) :– ''आत्म शब्द का प्रयोग बहुधा अहं के अर्थ में किया जाता है, यह वह एजेन्ट है जो अपने ही पहचान के स्थायित्व के संबंध में चेतन रहता है। ''

2.आइजनेक एवं अनके साथियों (1972) – ''अनुभवात्मक अनुसंधान में आत्म का अर्थ मूल रूप से उस प्रत्यक्षीकरण से है जो विषयी अपने ही संबंध में करता है।''

इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता हे आत्म का अर्थ है– वह प्रत्यक्षीकरण या अनुभव, जो मनुष्य अपने ही संबंध में करता है। यह वह प्रमुख कारक है जो सम्पूण्र जीवन को एक दिशा प्रदान करता है।

'आत्म के चार (04) पहलू होते है। यह आत्म को समझने में प्रतिक्रियाएं है–

1. व्यक्ति का आत्म का प्रायश्रीकरण किस प्रकार करता है।
2. वह आत्म का मूल्यांकन किस प्रकार करती है।
3. वह अपने बारे में किस तरह का चिन्तन करता है।
4. विभिन्न परिस्थितियों में वह आत्म की रक्षा किस प्रकार करता है।

आत्म निर्माण की प्रक्रियाः– आत्म या स्वयं के निर्माण की प्रक्रिया में भी बहुत से तत्वों का समावेश होता है। इसे मूर्त रूप में व्यक्तित्व में देखा जा सकता है।

1. आत्म अवधारणाः– आत्म अवधारणा से आशय उन सभी आयामों से है जिनसे व्यक्ति स्वंय से परिचित होता हैं इसमें व्यक्ति एक बार जो धारणा बना लेता है, उसे आसानी से नहीं बदलता, क्योंकि इसमें गूंढ़ विश्वासों, दृष्टिकोणों और मूल्यों का प्रभाव निहित होता है।

2. आत्म सम्मानः – व्यक्ति के अपने मूल्यों के व्यक्ति परक मूल्यांकन को आत्म सम्मान कहते है। इसमें व्यक्ति की अपनी क्षमताएं योग्यताएँ एवं विफलताएँ शामिल है। आत्मसम्मान किसी भी व्यक्ति के सफल जीवन का आधार –भूत तत्व है। इसमें व्यक्ति अपनी मौलिक ,अद्वितीया की आंतरिक समझ और एक गौरवपूर्ण अनुभूति है।

3. आत्म जगरूकताः– आत्म जागरूकता को आत्म से बाहर आत्म को अभिव्यक्ति करने की क्षमता के रूप में विकसित किया गया है। आत्म जागरूकता से आशय आस–पास के वातावरणीय उद्दीपकों के प्रति मानसिक रूप से सचेतन रहने से है। अपने चारों के वातावरणीय परिवेश से अलग आत्म को एक अलग व्यक्ति के रूप में देखने और अपने विचारों, भावनाओं , अनुभूतियों और व्यवहारों पर प्रतिबंधित करने की प्रकृति है।

4. आत्म ज्ञान :– व्यक्ति जब स्वयं के बारे में पूर्णतः परिचित होता है अर्थात् स्वयं को जानना –उसे आत्म ज्ञान कहते है। इस अवस्था में व्यक्ति के पास बहुत से शब्द, उनकों व्याख्याओं का ज्ञान, अनुभव का संगठन होता है, जो उसे निरन्तर ज्ञान के मार्ग पर पहूँचाता है। इसी से मनुष्य की सर्वज्ञ ज्ञान तथा सम्पूर्ण विश्व की आलोकिक रचना समझ आती है। आत्मज्ञान का अर्थ है इस जीवन के नये आयाम में प्रवेश करना । यह भौतिकता से परे का आयाम है। समय, आयु एवं परिस्थितियों के अनुरूप इसे प्राप्त किया जा सकता है।

1.4 स्वयं के विभिन्न आयाम

स्वयं के मुख्यतः: 05 (पाँच) आधारभूत आयाम है–

शारीरिक,

जिन्हें संबंधात्मक परिपेक्ष्य में Fig 1.1 से दर्शाया गया है।

Spiritual –आध्यात्मिक

Mental – मानसिक

Social – सामाजिक

Emotional– संवेगात्मक

Phusical – शारीरिक

Fig. 1-1 Various Dimasion of Self

1.4.1 शारीरिक आयाम

यह सभी स्वं के कार्यों का आधार है। एक अच्छे समावेशित स्वं के लिए सर्वप्रथम कार्य है– शारीरिक स्व को पोषित करना, इसकी विशेषताएँ निम्न प्रकार से है–

- शारीरिक विकास एंव वृद्धि
- एक आदतों के रूप में शरीर
- विधियों और अनुशासन के रूप में शरीर
- शरीर की अपनी स्मृति (Memory) होती है।

1. शारीरिक विकास एंव वृद्धि :– यह एक प्राकृतिक –प्रक्रिया है जिससे शरीर में बदलाव आते है। ये वही बदलाव है जो वृद्धि एवं विकास को दिखातें है। जैसे आयु अनुसार चहरे एवं माँसपेशियों का कमजोर होना, बाल सफेद होना इत्यादि।

विधियों एवं अनुशासन के रूप में शरीर– शरीर एक व्यवस्थित तरीके और अनुशासित रूप का पालन करता है उदाहरण के तौर पर पाचन प्रणाली– एक निश्चित समय पर भूख का संदेश दिमाग तक पहुँचाता है, इसी प्रकार संचार प्रणाली , श्रसन तथा मासपेशीय तंत्र घड़ी के साथ सटीक कार्य करते है, अतः अनुशासन विधि एवं सुगठित ढ़ग की कार्यप्रणाली अपनाने से इष्टतम परिणामी की प्राप्ती होती है।

2. आदतों के रूप में शरीर – यदि हम शरीर को सूक्ष्म रूप से निरीखण करते है तो हम पाते है कि यह आदतों के अनुरूप कार्य करता है। इन आदतों का अनुकरण कई कारकों के प्रभाव से होता है– जैसे परिवेश /पर्यावरण, परिस्थितियाँ जिनके हम है और कभी–कभी यह प्रकृति का हिस्सा भी होता है। शरीर एक पैटर्न विकसित करता है जिसमें वह काम करता है और जो इसे आजीवन अनुसरण करता है। आदतें बन जाती है।

3. विधियों एवं अनुशासन के रूप में शरीरः– शरीर एक व्यर्वस्थत तरीके और अनुशासित रूप का पालन करता है। उदाहरण के तौरपर पाचन प्रणाली– एक निश्चित समय पर भूख का संदेश दिमाग तक पहुँचता है, उसी प्रकार संचार प्रणाली, श्रसन तथा मासपेशीय तंत्र घड़ी के साथ सटीक कार्य करते है। अतः अनुशासन विधि एव सुंगठित की कार्यप्रणाली अपनाने से इष्टतम परिणामों की प्राप्ती होती है।

4. शरीर की अपनी स्मृति होती है– हमारा अनुभव बताता है कि शरीर कभी भी चीजों की नहीं भूलता जो हमने जीवन में सीखा है, जैसे तैराना, वाहन चलाना, टंकण इत्यादि शरीर धीरे–धीरे अभ्यास की कमी के कारण (मुद्र लेखन) अपनी प्रक्रियाओं को धीमा कर देता है। परन्तु यह

विशिष्ट कौशलों को कभी नही भूला चाहे सामान्य स्मृति खो भी जाए, शरी सहज रूप से हमें सही रास्ते पर ले जाता है, जब तक कि बाहरी प्रक्रियाओं में बाधा न आए।
शारीरिक आयाम के चार प्रमुख

1.4.2 मानसिक आयाम /अतःकरण – मन एक अद्भूत उपकरण है तथा इसकी कार्यप्रणाली बेहद अद्भूत एवं आकर्षक है, मन तथा बुद्धि के विकास के अध्ययन से हमे पता चलता है कि इसके विभिन्न कार्य है। शुरूआत में मन /बुद्धि कारणों की जाँच कर सरल समस्याओं का समाधान करता है। यह धीरे–धीरे सरल से जटिल अवधारणाओं तथा अर्मूत की तरफ जाता है। यह अपने इंद्रियों से जानकारी तथा धारणाएँ ग्रहण करता है तथा उन्हें विश्लेषण और संक्ल्षेषण के आयोजन द्वारा उन्हें संसाधित करता है तथा अंत में सम्प्रेषण द्वारा भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है।

मन प्रकृति के उस हिस्से की संदर्भित करता है। जो अनुभूति, संज्ञान, बुद्धि , विचारों , विचार धारणाओं, मानसिक गठन, मानसिक दुष्टि और इच्छाशक्ति से संबंधित है। मन एक चिंतनशील दर्पण की तरह है जो सूचना और छवियों को खुद से और खुद से अधिक बाहरी जानकारियों को प्राप्त करने में सक्षम है। यह संगठन और मानसिक आंदोलनों के गठन का एक साध है और इष्टतम विकास के पोषण हेतु आवश्यक है।

1.4.3 संवेगात्मक आयाम– भावनात्मक /संवेगात्मक आयाम का संबधं भावनाओं या भावनात्मक गुणों से है। यह एकत्रित की हुई भावनाओं या ऊर्जाओं की रिहाई है। या व्यक्ति की संभावनाएँ है जो साथ में शरीर के आंतरिक या बाह्‌ा परिवर्तनों में दिखाई देती है।

प्रेम, ईर्ष्या, क्रोध, डर – यह चार भावनाएँ ही इस आयाम के मुख्य प्रकार है। इन के साथ–साथ उत्साह, अवसाद, स्वयं की खुशी तथा किसी भी बाहरी उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया भी भावनाओं में शामिल है। उदाहरण के लिए माँ को देखते ही एक बच्चे की खुशी की भावनाएँ ,प्रश्न पत्र को देखते ही एक छात्र की चिंता आदि, भावनाएँ मानव जीवन में अर्थ और समृद्धि को जोड़त है। बिना भावनाओं के स्वयं अपनी इच्छाओं, भावनाओं और विचारों को व्यक्त नहीं कर सकता। माँ को देखते ही बच्चे की खुशी, प्रेम का आनन्द, छात्र को अच्छे प्रदर्शन ,चिंता या भय , उपेक्षा की ईर्ष्या , परिक्षा में उत्तीर्ण होने का उत्साह आदि ऐसी भावनाएँ है जिनका अनुभव हम अलग–अलग परिस्थितियों में करते है। अतः भावनाए मनुष्य जाति की प्राथमिक प्रेरक प्रणाली है तथा मानव के होन का एक अनिवार्य पहलू भी है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार, प्राण सभी भावनाओं , संवेगो, इच्छाओं और आवेगों का महत्वपूर्ण आसन है। कुछ भावनाएँ व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन पैदा करती है। जैसे मित्रता तथा स्नेह, वही कुछ भावनाएं हमारे व्यवहार को बाधित तथा असंगठित कर देती है।

भावनाओं का नियंत्रण– सहानुभूति यह भावनाओं को महसूस करेन की वो क्षमता है, जो किसी अन्य व्यक्ति द्वार व्यक्त की गई है। बहुत छोटे बच्चे यह नहीं समझ सकते परन्तु बड़े होते बच्चे इस अलगाव को समझने लगते है तथा उसी प्रकार प्रतिक्रिया देते है। सहानुभूति एक –दूसरे की समझने और पाने की क्षमता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सहानुभूति बच्चे अधिक दयालु और संवेदनशील होते है और दूसरों की मदद करनी की अधिक संभावना रखते है।

समूह में सीखने तथा टीम वर्क एक–दूसरे की भावनाओं को समझने मे मदद करते है। एक शिक्षक के रूप मं आपके लिए बेहतर तरीके से अपने छात्रों तक पहुँचने के लिए सहानुभूति पैदा करना महत्वपूर्ण है। छात्रों की कम उपलब्धि और व्यवहार –संबंधी समस्याएँ ,सहानुभूति के माध्यम से सबसे अच्छी से संभालतीहै।

1.4.4 सामाजिक आयाम– सामाजिक रूप में दूसरों के संबंध में होता है, इसमें सहयोग, एकता, संबंध, त्याग, समर्थन अथवा भागीदारी जैसे जीवन के पक्षों पर बल दिया जाता है, इस प्रकार , आत्म के सामाजिक आयाम में परिवार एंव सामाजिक संबंधों को महत्व दिया जाता है। अतः सामाजिक आयाम मूल्तः संबंधात्मक अथवा पारिवारिक होते है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में जाति एक महत्वपूर्ण कारक है। भारत में कई जातियों के समूहों को देखा गया है, जिनकी अपनी –अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है । जाति की अपनी विशेषताएँ होती है। जैसे– भाषा, पारम्पंरिक वेशभूषा , संस्कृति, आचार–विचार , खान–पान, इत्यादि, व्यक्ति जिस जाति में पैदा होता है, उसमें उसी संस्कृति के अनुसार आत्म का निर्माण होता है।

1.4.5 आध्यत्मिक आयाम–

आध्यत्मिक आयाम स्वयं के अन्दर की अनुभूति या आवाज है, यह सर्वोत्तम कृपा है, यह एक शांत वातावरण तथा अथाह आन्नद का स्त्रोत है। आध्यमिक इन सब में निहित है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जा इन सब के साथ–साथ , और कई चीजों को अपने में समाहित किये हुए है। इसमें अपने स्वयं को तथा सार्वभौमिक स्वय के एक होने का अनुभव है। यह शरीर की भावनाओं और विचारों के छिपे हुए स्वयं का सार है जो कि पूर्ण, अमर, परिपूर्ण, एंव सम्पूर्ण हैं यह वो भावना है जिससे हम निरन्तर प्राप्त करते है, जिससे इस पृथ्वी पर हमारा जीवन संभव है। अतः आध्यात्मिकता साररूप से एक आंतरिक वास्तविकता के प्रति जागृति है, जो मन और शरी और जीवन से परे है, यही जागृत अवस्था स्वयं से परिचय है। यह एक आंशिक आकांक्षा भी है, जिससे हम ब्रह्यण्ड में व्याप्त वास्तविकता को जानने की तथा उसे अनुभव करने की साथ ही स्व में बसने तथा विशालतम् वास्तविकता से संपर्क स्थापित कर सकें।

1.5 स्वयं :–

व्यक्तिगत एंव सामाजिक स्व :– सहयोग एवं विवाद हर मनुष्य की कम से कम ,दी पहचान है, एक व्यक्तिगत पहचान या व्यक्तिगत स्व है दूसरा हमारी सामाजिक पहचान है आपका व्यक्तिगत स्व का आपके व्यक्ति से सीधा संबंध है। आप का व्यक्ति व हिर्मुखी, विनम्र तथा विक्षिप्त इत्यादि हो सकता है। वहीं दूसरी तरफ, सामाजिक स्व उन समूहों से प्राप्त होता है जिनसे आप संबंधित है, उदाहरण के लिए– आप का परिवार , देश, धर्म, नस्ल, खेल टीम, आदि , इन पहचानो में से प्रत्येक के नियम , मूल्य एवं भूमिकाएँ है।

व्यक्तित्व स्व में आपका व्यवहार , आपके अलग –अलग लक्षणों , जो आपके परिभाषित करते है। अतः आपकी यह पहचान सक्रिय है तो आप अपने व्यक्तित्व के अनुसार कार्य करेंगे। हालांकि ,कुछ अवसरों पर समूह अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। उस समय, आप समूह के साथ–साथ समूह के नियमों में आपकी भूमिका के अनुरूप होगे। एक स्थिति जिसमें ऐसा अक्सर होता है। जब समूह को खतरा महसूस होता है।

1.5.1 दो स्वयं को एकीकृत करने में विवाद – व्यक्तिगत स्व और सामाजिक स्व के बीच का संबंध सामंजस्य न होने पर विवाद का विषय बन जाता है।

1. आपके व्यवहार संचालन होता है आपके प्ररेणा से, यदि आप अपने ''व्यक्तिगत स्वयं'' से प्रेरित है, तो आपका व्यवहार आपकी पहचान अथवा व्यक्तिगत के अनुसार और अनुरूप होगा।

यदि आप सामाजिक स्वयं से प्रेरित है, तो आपका व्यवहार आपके समूह के नियमों और भूमिकाओं से निर्धारित होगा , इन दोनों स्थतियों में पहचान संलयन नहीं होना चाहिए ।

2. एक समूह के सदस्य अपनी सामाजिक पहचान के संबंध में खुद को परिभाषित करते है। जैसे, एक समूह के सदस्यों को विनिमेय माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, कई समूहों में, एक समूह विश्षक की भूमिका निभाता है। समूह में ,एक सदस्य के रूप में कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह भूमिका कौन व्यक्ति निभा रहा है। महत्वपूर्ण यह है कि कोई भी दूसरा व्यक्ति इस कार्य को कर सकता है या नहीं।

3. हम एक समूह के साथ किस हद तक पहचान करते है,यह संदर्भ पर निर्भर करता है। परिवर्तन उस सीमा को सीानांतरित करने जा रहें हैं जिससे आप एक समूह के साथ पहचान

करते है। उदाहरण –यदि आपकी खेल टीम एक महत्वपूर्ण प्रतियोगिता जीतती है, तो आपका सामाजिक स्व इससे बहुत मजबूत से जुड़ जाएगा। परन्तु उस जीत के बाद, समय बीतने पर वह बंधन कमजोर होता जाएगा। अतः जब पहचान में से केवल एक सक्रिय होता है, तो भी वह दूसरे को प्रभावित कर सकता है।

1.5.2 सहयोग

समूह के साथ एकता की स्पष्ट भावना के रूप में परिभाषित किया गया है। समूह के साथ लोगों का बंधन मजबूज होता है। उदाहरण के लिए, यदि समूह के किसी सदस्य के व्यक्तित्व पर सवाल उठते है, तो समूह के सभी सदस्य उसकी पहचान का बचाव करने के लिए प्रेरित हो जाते है।

4.2 स्वयं/आत्म की अवधारणा (Self Concept)

आत्म प्रत्यय का अर्थ है– व्यक्ति के गुणों और व्यवहार आदि के विषय में उसका स्वयं का मत एक व्यक्ति अपने गुणों एवं व्यवहार के संबंध में जो मत रखता है, वह उसका आत्म प्रत्यय है। हर व्यक्ति का आत्म–प्रत्यय उसके अपने विचारों पर आधारित रहता है। यह व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु है तथा इस केन्द्रक से व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण या शीलगुण Traits) जुड़े हुए है।

- कैटल (1957) के अनुसार– आत्म प्रत्यय व्यक्तित्व का प्रधान सिद्धान्त है।
- आइजनेक और उनके साथियों (1972) के अनुसार– व्यक्ति के व्यवहार, योग्यताओं और के संबंध में उनकी अभिवृत्ति, नि..... और मूल्यों के योग को ही आत्म प्रत्यय कहते है।

1.6 स्वयं/आत्म अवधारणा के अवयव (Components of Self Concept)

आत्म प्रत्यय के तीन प्रमुख अवयव है–

(1) प्रत्यक्ष परक अवयव– इस अवयव के अन्तर्गत एक व्यक्ति के शरीर की प्रतिमा (Image) आती है तथा दूसरों पर क्या छाप छोड़ताहै, यह भी उसके प्रत्यक्षपरक अवयव है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति शारीरिक रूप से कितना आकर्षक है। अतः इसे शारीरिक आत्म प्रत्यय (Physical Self -Concept) भी कह सकते है।

(2) प्रत्ययात्मक अवयव (Conc..... Component) – इसमें व्यक्ति की यह विशेषता आती है, जिसके कारण वह दूसरों से भिन्न है, इसमें उस व्यक्ति की योग्यताएँ एवं अयोग्यताएँ भी आती है। इसके अन्तर्गत जीवन के समायोजन से सम्बन्धित विशेषताएँ भी आती है, जैसे– ईमानदारी, आत्मविश्वास, स्वतंत्रता, साहस अथवा इन गुणों के विपरीत गुण। इस अवयव को मनोवैज्ञानिक आत्म प्रत्यय (Psychological Self Concept) भी कहते है।

(3) अभिवृत्तिपरक अवयव (A..... Self Concept) – इसमें व्यक्ति के स्वयं के प्रतिभाव (Feelings) आते है, इसके अन्तर्गत वह अभिवृत्तियाँ आती है जो व्यक्ति के आत्म सम्मान, आत्म उपागम, गर्व आदि से सम्बन्धित होती है, इसके व्यक्ति के विश्वास, धारणाएँ एवं विभिन्न प्रकार के मूल्य, आदर्श और आकांक्षाएँ भी

स्वयं/आत्म अवधारणा का विकास (Development of Self Concept)

जीवन के प्रथम वर्ष के अन्त तक बच्चे अपने आप को एक अलग प्राणी के रूप में समझने लगता है। वह अपनी आवाज से पहले अपनी माँ की आवाज को पहचानता है।

हरलॉक (Hurlock) (1978) का विचार है कि –क्योंकि बच्चा प्राथमिक अहकारपूर्ण (Primarly ..... Self Centerud) बच्चा प्राथमिक रूप से आत्म केन्द्रित होता है इसीलिए वह पहले स्वयं के बारे में पहले सोचता है तथा स्वयं की धारणा या विचार पहल करता है फिर दूसरों के बारे में विचारशील होता है। बच्चों के आत्म प्रत्यय में दो प्रकार की प्रतिमाएँ होती है।

(i) पहली, शारीरिक आत्म प्रतिमाएँ (Physical Self Image) इसका विकास पहले होता है, इसका संबंध बालकों की शारीरिक बनावट और रंग रूप से होता है।

(ii) दूसरी, मनोवैज्ञानिक आत्म प्रतिमाएँ (Psychological Self Image), इनमें बालक की भावनाएँ, विचार, संवेग, साहस, ईमानदारी, स्वतंत्रता, आत्म–विश्वास, योग्यताएँ तथा आकांक्षाएँ आदि सम्मिलित होती है। बालक की आयु जैसे–जैसे बढ़ती जाती है वैसे–वैसे ही शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतिभाएँ आपस में एक–दूसरे में समाहित हो जाते हैं।

एल. के. फ्रेन्क और एम.एच. फ्रेन्क (1956) का विचार है कि – बालक अपने चारों और के वातावरण में जैसा अपने आप को देखता है और जैसे उसके परिवार के लोग और परिचित उसे देखते है, उसी आधार पर वह अपने आत्म प्रत्यय का निर्माण करता है। यही कारण है कि आत्म प्रत्यय को दर्पण प्रतिमा (Mirror Image) कहा गया है।

हरलाक (1978) के अनुसार एक व्यक्ति के रूप में बच्चे की स्वयं की अवधारणा, एक दर्पण–प्रतिमा या छवि की तरह है, जो वह मानता है कि उसके जीवन में महत्वपूर्ण लोग उसके बारे में क्या सोचते है। क्योंकि बच्चा कम अनुभव वाला होता है, इसीलिए दूसरे लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते है, इस बात को कभी–कभी वह अशुद्ध निर्वचन (Misinteepret) कर जाता है। उदाहरण के तौर पर – कभी–कभी परिवार तथा साथीयों द्वारा बालक को शैतान समझन लेने के कारण, स्वयं बालक भी अपने आप को शैतान बच्चे के रूप में देखने लगता है तथा अपना आत्म प्रत्यय भी इसी प्रकार का बना लेता है।

बच्चे अपनी स्वयं की भावनाओं और क्षमताओं की व्याख्या करने को तैयार रहते है। एक बार आत्म–प्रत्यय बनने के बाद यद्यपि बच्चों स्थिर हो जाते है, परन्तु नये अनुभवों के बढ़ने के साथ–साथ इनमें भी संशोधन और परिवर्द्धन होता रहता है, आत्म–प्रत्यय में क्रमबद्धता (Hierarchy) पायी जाती है। बालक में प्रारंभिक अवस्था में जो आत्म–प्रत्यय बनते है उन्हें प्राथमिक आत्म प्रत्यय कहा जाता है। यह (Primary Self Concept) आत्म प्रत्यय माता–पिता अथवा परिवार के सदस्यों के शिक्षण के आधार पर बनते हैं।

जब बालक दूसरे बच्चों के साथ खेलना और स्कूल जाना प्रारंभ करता है तब उसमें पहले से बने प्राथमिक प्रत्ययों का संशोधन एवं परिवर्द्धन होने लगता है, इस अवस्था को द्वितीयक आत्म प्रत्यय (Secondary Self Concept) कहा जाता है। इसमें आधार होते है अन्य या दूसरे लोग बालक को किस दृष्टि से देखते है।

स्वयं की अवधारणा या आत्म प्रत्यय निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। अतः इसका विकास तथा बदलाव जीवन भर चलता है। परन्तु यह सबसे अधिक आमद या प्रवाह में शुरूआती वर्षों में होता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था परिपक्व समय है, इन युवा होते मनुष्यों के लिए कि वे खुदा को इस दुनिया में समझ या महसूस कर सके।

प्रारंभिक बाल्यावस्था में स्वयं की अवधारणा का गठन एवं विकासः–

सामान्य तौर पर स्व अवधारणा का प्रारंभिक बाल्यावस्था विकास तीन चरणों में होता है।

1. Stage 1:– 0 – 2 वर्ष

a) बच्चों को स्वयं की भावना विकसित करने के लिए लगातार स्नेह तथा प्रेम पूर्वक रिश्तों की आवश्यकता होती है।

b) बच्चों प्राथमिकताएँ बनाते है तो स्वयं के सहज ज्ञान के साथ संरेखित होती है।

c) 2 वर्ष की आयु में, भाषा–कौशल के विकास के साथ बच्चों में 'मैं' की समझ हो जाती है।

2. Stage 2:– 3 – 4 वर्ष

a) बच्चे अपने आप को अद्वितीय और अलग व्यक्ति के रूप में देखते है।

b) आत्म छवि निर्णयात्मक होने के बजाय वर्णनात्मक दिखाई देती है।

c) पूर्व प्राथमिक विद्यालयीन बच्चे तेजी से अधिक स्वतंत्र एवं बहुत अधिक उत्सुक होते है कि वे क्या कर सकते है।

2. Stage 3:– 5 – 6 वर्ष

a) इस चरण में बालक 'मैं' से 'हम' का बदलाव की तरफ आता है तथा वह बड़े समूह की जरूरतें एवं रूचियों के प्रति ज्यादा जागरूक होता है।

b) बच्चे अपने शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी आवश्यकताओं एवं भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अपनाते है।

c) 5–6 वर्ष, ज्यादा उन्नत भाषा का प्रयोग कर अपने आप को परिभाषित करने में स्वयं की मदद करते है।

आत्म–अवधारणा मध्य बाल्यावस्था में 7 से 11 वर्ष की आयु में बालक/बच्चे अपने सामाजिक स्वयं की भावना का विकास करने लगते है तथा यह पता लगा लेते है कि वे बाकि सभी के साथ कैसे योग्य होते है। वे सामाजिक समूहां का संदर्भ देते है और सामाजिक तुलना बार–बार करते है। बच्चे इस अवस्था में यह सोचना शुरू कर देते है कि दूसरे उनके बारे में क्या सोचते है तथा उनमें क्या देखते है।

1. 6.1 आत्म सम्मान (Self Esteem)

आत्म सम्मान एक व्यक्ति के अपने मूल्यों का व्यक्तिपरक मूल्यांकन है। यह अपने बारे में अनेक विश्वासों को शामिल करता है। जैसे–मैं याग्य हूँ, मुझ में क्षमात है आदि। साथ ही इसमें भावनाओं का भी समावेश होता है। जैसे– निराशा, विजय, गर्व आदि।

4.3.1 आत्म सम्मान का अर्थ (Meaning of Self Esteem)

विलियम जेम्स (William James, 1890) ने आत्म के सम्बन्ध में सर्वप्रथम वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किये। विलियम जेम्स ने आत्म सम्मान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभिवृत्ति जो एक व्यक्ति विकसित करता है वह है अपने सम्बन्ध में अभिवृत्ति। अपने स्वयं का यह मूल्यांकन आत्म सम्मान कहलाता है।"

बैरन एण्ड बाइरनी (2003) ने आत्म सम्मान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला आत्म मूल्यांकन जिसमें वह अपनी स्वयं के प्रति अभिवृत्तियों का मूल्यांकन करता है उसका यह मूल्यांकन धनात्मक और ऋणात्मक दो विमा वाला होता है।"

आत्म सम्मान को परिभाषित करते हुए डी.एन. श्रीवास्तव (2004) ने लिखा है कि "व्यक्ति की अपनी स्वयं के सम्बन्ध में धनात्मक या ऋणात्मक अभिवृत्ति ही उसका आत्म–सम्मान है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुख्यतः आत्म सम्मान दो प्रकार का होता है–

(1) धनात्मक आत्म सम्मान

(2) ऋणात्मक आत्म सम्मान

धनात्मक आत्म सम्मान का अर्थ है कि व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति उच्च मूल्यांकन करता है। धनात्मक आत्म सम्मान वाला व्यक्ति अपने आपको बहुत अधिक पसन्द करता है। ऋणात्मक आत्म सम्मान है, जिसमें व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति निम्न मूल्यांकन करता है। वह व्यक्ति अपने को कम अच्छा समझता है और कम गुणों वाला समझता है। इस प्रकार से वह अपना ऋणात्मक मूल्यांकन करता है। व्यक्ति अपना धनात्मक व ऋणात्मक मूल्यांकन करता है, उसका यह मूल्यांकन दूसरे लोगों के मतों से बहुत अधिक प्रभावित होता है। इसके साथ–साथ उसका आत्म सम्मान उसके विशिष्ट अनुभवों पर भी आधारित होता है। दूसरे शब्दों में आत्म सम्मान के दो महत्वपूर्ण निर्धारक हैं जिनमें से एक कारक दूसरे लोगों के मत (Opinion) और दूसरा कारक विशिष्ट अनुभव (Specific Experience) है। संस्कृत सम्बन्धी कारक भी आत्म सम्मान को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। एक अध्ययन के अनुसार जिन संस्कृतियों में व्यक्ति को अधिक मूल्यवान समझा जाता है उन संस्कृतियों में रहने वाले व्यक्ति अपने आत्म सम्मान का धनात्मक मूल्यांकन करते हैं।

डयूटन (Dulton 1995) और **नेजलेक** और उनके साथियों (Nezleck et al 1997) ने आत्म सम्मान के क्षेत्र में अपने–अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जो व्यक्ति ऋणात्मक आत्म सम्मान वाले होते हैं उन व्यक्तियों के व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्य कथन या भविष्यवाणी अपेक्षाकृत सरलता से की जा सकती है। दूसरी ओर जिन व्यक्तियों का आत्म सम्मान धनात्मक प्रकार का होता है उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना ऋणात्मक आत्मसम्मान वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कठिन होता है।

आत्म सम्मान एक ऐसा प्रत्यय है जो बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है और यह सार्वभौमिक प्रत्यय है। विश्व के सभी देशों के लोगों में आत्म सम्मान की भावना पायी जाती है। कुछ लोग अपना आत्म सम्मान सम्बन्धी मूल्यांकन खेल से सम्बन्धित करते हैं। कुछ लोगों का आत्म सम्मान उनकी पढ़ाई से सम्बन्धित होता है। कुछ लोगों का आत्म सम्मान परिवार या पद से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार से व्यक्ति अपने–अपने क्षेत्र से सम्बन्धित मूल्यांकन करता है।

आत्म सम्मान के मूल्यांकन की विमा (Dimension) उच्च से निम्न विमा है। दूसरे शब्दों में आत्म सम्मान का मूल्यांकन धनात्मक से ऋणात्मक विमा पर किया जाता है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आत्म सम्मान का मूल्यांकन उच्च से निम्न श्रेणी की विमा पर किया जा सकता है।

स्ट्राडमैन (Strarman, 1996) ने आत्म सम्मान के मूल्यांकन की एक और विधि बताई है। आपके अनुसार व्यक्ति से पहले उसके वास्तविक आत्म (Real Self) के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं फिर उसके आदर्श आत्म के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं। दोनों प्रकार के आत्म में जो अन्तर होता है वह आत्म सम्मान को दर्शाता है। पहले दोनों प्रकार के आत्म का मापन श्रेणी मूल्यांकन की सहायता से करते हैं। इससे दोनों आत्म के सम्बन्ध में अलग–अलग प्राप्तांक प्राप्त हो जाते हैं।

अनेक मनोवैज्ञानिकों (Browne, 1992, Wegment and Taylor, 1995) का विचार है कि आत्म मूल्यांकन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से प्राप्त होती है। आत्म सम्मान का सम्बन्ध व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धि से भी होता है। इस दिशा में हुए अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि प्राइमरी शिक्षा स्तर पर नीग्रो बच्चों का आत्म सम्मान उच्च होता है लेकिन उनकी शैक्षिक उपलब्धि निम्न होती है। दूसरी ओर अमरीका के श्वेत बच्चों का आत्म सम्मान प्राइमरी स्तर पर निम्न होता है, लेकिन उनकी शैक्षिक उपलब्धि उच्च स्तर की हो जाती है, लेकिन उनका आत्म सम्मान निम्न हो जाता है।

आत्म सम्मान में परिवर्तन (Changes in Self Esteem)

व्यक्तियों के आत्म सम्मान में परिवर्तन होता रहता है। आत्म सम्मान स्थिर प्रत्यय नहीं है। यह देखा गया है कि व्यक्ति के जीवन के जो ऋणात्मक अनुभव होते हैं, उनका व्यक्ति के आत्म सम्मान पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार से व्यक्ति के जीवन के जो धनात्मक अनुभव होते हैं, उनका उस व्यक्ति के आत्म सम्मान पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि जब व्यक्ति के परिवार, स्कूल, दफ्तर या मित्र मण्डली में जब कोई कटु अनुभव होते हैं अथवा कोई समस्या होती है तब इस अवस्था में व्यक्ति का आत्म सम्मान कुछ न कुछ गिर जाता है। यदि व्यक्ति का आत्म सम्मान धनात्मक है तो कम धनात्मक हो जाता है और यदि व्यक्ति का आत्म सम्मान ऋणात्मक है तो उसका आत्म सम्मान कुछ और ऋणात्मक हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन आत्म सम्मान में होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जब व्यक्ति में चिन्ता की मात्रा बढ़ जाती है तब उस व्यक्ति का आत्म सम्मान महत्त्वपूर्ण ढंग से बढ़ जाता है।

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि व्यक्ति का आत्म सम्मान यदि धनात्मक है तब उसमें चिन्ता की मात्रा बढ़ने पर उसका आत्म सम्मान अधिक धनात्मक हो जाएगा। इसी प्रकार से जब व्यक्ति का आत्म सम्मान ऋणात्मक प्रकार का है, तो उस व्यक्ति का आत्म सम्मान और अधिक ऋणात्मक प्रकार का हो जाएगा।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्म सम्मान में परिवर्तन हर क्षण होता रहता है। वास्तविकता यह है कि आत्म सम्मान में परिवर्तन इतनी तेजी से और इतना अधिक नहीं होता है।

दैनिक जीवन के अनुभवों में यह देखा गया है कि व्यक्ति का आत्म सम्मान लगभग स्थिर सा रहता है क्योंकि हम अपने आत्म सम्मान को बनाए रखने के लिए अपने प्रकार की मैकेनिज्म का प्रयोग करते हैं (Tessen 2001) । जो व्यक्ति धनात्मक आत्म सम्मान वाले होते हैं वह प्रतिकूल अनुकूल परिस्थितियों और घटनाओं को याद करते रहते हैं। इससे उनका उच्च आत्म सम्मान बना रहता है। इसी प्रकार जो ऋणात्मक आत्म सम्मान वाले होते हैं, वह

प्रतिकूल परिस्थितियों और घटनाओं को अधिक याद करते रहते हैं। इससे उनका ऋणात्मक आत्म सम्मान उसी ऋणात्मक प्रकार का बना रहता है (Stary 1998)। एक अन्य अध्ययन (Dodgson and Wood, 1998) के अनुसार जो व्यक्ति ऋणात्मक आत्म सम्मान वाले होते हैं, वह अपनी कमजोरियों का स्मरण करते रहते हैं और जो धनात्मक आत्म प्रत्यय वाले व्यक्ति होते हैं, वह अपनी शक्ति और महत्त्व का स्मरण अधिक करते हैं। इस कारण से उनका आत्म सम्मान जिस प्रकार का है वह उसी प्रकार का बन जाता है।

समाज में व्यक्ति धनात्मक आत्म सम्मान को अच्छा समझते हैं, इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने आत्म सम्मान को परिवर्तित नहीं करना चाहता है और यदि वह अपने आत्म सम्मान को परिवर्तित करना चाहता है, तो उसकी चाहत यही होती है कि वह अपने आत्म सम्मान को परिवर्तित करना चाहता है, तो उसकी चाहत यही होती है कि वह अपने आत्म सम्मान को धनात्मक आत्म सम्मान में परिवर्तित करे। जिस व्यक्ति का आत्म सम्मान पहले से ही धनात्मक होता है वह व्यक्ति अपने आत्म सम्मान को और अधिक धनात्मक बनाना चाहता है। रॉजर्स की रोगी केन्द्रित चिकित्सा पद्धति (Rogers client centred therapy) में रोगी के वास्तविक आत्म (Real self) और आदर्श सम्मान को बढ़ाया जाता है, किसका आत्म सम्मान कितना बढ़ेगा, यह तो उपचार करने वाले व्यक्ति या रोगी पर निर्भर करता है।

अपने आत्म सम्मान को बढ़ाने के लिए लोग अपने मन पसन्द के कपड़े पहनते हैं। (Kwon, 1994) आत्म सम्मान को बढ़ाने के लिए एक अध्ययन के अनुसार अपने विचारों को जीवन की धनात्मक दिशा में ले जाना और इसी प्रकार की सोच को विकसित करना चाहिए (MC Guere and MC Guire 1996) पारस्परिक अन्तः क्रियाओं के सम्बन्ध में धनात्मक सोच में भी आत्म सम्मान बढ़ता है (Leary et al. 1998) ।

व्यक्ति का आत्म सम्मान ऋणात्मक की ओर तब बढ़ता है, जबकि व्यक्ति के माता पिता उसको तिरस्कृत करते हैं। उसको अच्छे कपड़े पहनने को नहीं मिलते हैं अथवा उसकी पसन्द के अच्छे कपड़े पहनने को नहीं मिलते हैं। व्यक्ति का निष्पादन जब दुर्बल प्रकार का होता है तब भी उसका आत्म सम्मान ऋणात्मक की ओर बढ़ता है। यह भी देखा गया है कि जब व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध दुर्बल या खराब होते हैं, तब भी उसका आत्म सम्मान ऋणात्मक की ओर बढ़ता है या परिवर्तित होता है (Alexander and Soners 2000)।

1.7 आत्मबोध एंव आत्म अनुभूति या आत्म–साक्षात्कारः–आत्मबोध एंव आत्मअनुभूति दोनो ही स्वयं की उपलब्धि को संदर्भित करते है।

आत्म बोध किसी व्यक्ति की पूर्ण क्षमता या उपलब्धि महसूस करने का मकसद या ड्राइव है जबकि आत्म –अनुभूति /आत्म साक्षात्कार किसी के व्यक्तित्व की पूरी तरह से साकार करने की प्रक्रिया है।

अतः आत्म बोध एवं आत्म –अनुभूति मनोविज्ञान,दर्शन एवं आध्यात्मिकता में दो अवधारणाएं हैं जो स्वयं संभावनाओं और संभावनाओं की उपलब्धि को दर्शाती है। इन दोनों शब्दों का अर्थ उस लक्ष्य या प्रेरणा से हो सकता है जा मनुष्य को चलाती है, दोनों के बीच मे अंतर मुख्यतः इस बात पर है कि 'स्व ' की अवधारणा कैसे की जाती है या इसे दुनिया में किस सन्दर्भ में कैसे समझा जाता है। आत्म बोध जीवन के पहलू में भी परिलक्षित होता हे जहां प्रत्येक अवधारणा का आमतौर पर उपयोग किया जाता है, धर्म और अध्यात्म के विपरीत

विज्ञान वही स्वन्वास्तविक व्यक्ति में आत्म अनुभूति इसे धर्म और अध्यात्म से जोड़ते है। काल रोजर्स आत्म बल को एक व्यकित के जीवन मेंए क सतत् प्रक्रिया मानते है। , इस शब्द को अंततः अमेरिकी मनावैज्ञानिक अब्रहाम मास्लों ने अपनाया और मानव प्रयोग के अपने सिद्धान्त में आवश्यकताओं के पदानुक्रम में सर्वोच्च के रूप में माना गया। इसे 'आत्म पूर्ति' की इच्छा के रूप में वर्णित किया है। वे अपनी चूनी हुई कला, अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ होने के लिए एक एथलीट ,या मातृत्व के आदर्श को प्राप्त करने के लिए एक माँ आवश्यकता का उदाहरण देते है। मास्लों आत्म बोध वाले व्यक्तियों का वर्णन बताते है। कि ऐसे लोग सृजनात्मक , तथा उनमें जाती है। इसमें स्वयं की केवल पहचान और चेतना की दृष्टि से आत्म –अनुभूति क्या है? देखा जाता है।

DELED 04

खण्ड – 1

इकाई 2 स्वयं एवं समाजीकरण

(Self & Socialization)

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 स्वयं की परिभाषा एवं अर्थ

2.4 स्वयं का महत्व

2.5 स्व या आत्मन को प्रभावित करने वाले कारक

2.6 समाजीकरण की प्रकृति

2.7 समाजीकरण की प्रक्रिया एवं –

- 2.7.1 परिवार की भूमिका
- 2.7.2 समूह की भूमिका
- 2.7.3 समाज की भूमिका
- 2.7.4 मॉस मीडिया की भूमिका
- 2.7.5 धर्म की भूमिका
- 2.7.6 स्कूल की भूमिका
- 2.7.7 घर, समाज एवं स्कूल में अभिकलन (इंटरफेस) के रूप में

2.8 स्वयं एवं स्व–पहचान में समाजीकरण का विकास

2.9 व्यापक समाजशास्त्रीय संदर्भ और आत्म एवं पहचान के विकास पर समाजीकरण के प्रभाव के साथ जुड़ाव

2.1 प्रस्तावना – समाजीकरण (Socialization) वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीतिरिवाज़, गतिविधियाँ इत्यादि सीखता है। जैविक असित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी समाजीकरण के माध्यम से ही होता है। समाजीकरण के माध्यम से ही मनुष्य अपनी संकृति को अपनाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही अपने भौतिक और अ–भौतिक रूपों से परिचित हो पाता है। सीखने की यह प्रक्रिया समाज के नियमों के अधीन चलती है। समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक रूप से क्रियाशील बनाता है।

स्माजीकरण प्रक्रिया में स्वयं का एवं स्वयं की पहचान का महत्व है।

सर्व प्रथम हम स्वयं को जाने, हम में से अधिकांश तो स्वयं की पहचान नहीं रखते हैं, यदि जानते हैं तो ठीक रूप में व्यवहार नहीं कर पाते हैं, अपने आप खुद को केन्द्रित या चिन्हित करने के लिए प्रयोग किया जाने वाला शब्द स्वयं है। स्व अवधारणा वह विचार या छवि है, हमारे पास है, यह आंतरिक प्रतिबिंब हमारे द्वारा किए गए भूमिकाओं, हमारे लक्ष्यों, और उद्देश्यों, हमारे व्यक्तित्व द्वारा निर्मित हैं दूसरी ओर स्वंय का यह विचार गतिशील है, जिसका अर्थ है कि समय के साथ बदलना रहता है। हमारी पहचान और दूसरों के प्रति जागरूकता हमारे जीवन को आसान बनाती है, और हमारे पारस्परिक रिश्तों केा आसान बनाती है। स्वयं से स्वयं की पहचान यानी आंतरिक शक्ति का साक्षात्कार। आंतरिक शक्ति मनुष्य की जीवंत शक्ति होती है। जिसके बल पर वह ऐसे कार्य कर लेता है, जो आश्चर्यजनक होते है। यदि मनुष्य दृढ़ निश्चय कर ले, तो वह किसी भी काम को आसानी से कर सकता है। सर्वप्रथम आवश्यकता स्वयं को पहचानने की है। मनुष्य जीवन में दो सीढ़ीयों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता है, ये दो सीढ़ीयाँ है– सफलता एवं असफलता कुछ मनुष्य जो प्रारंभ से ही जीवन को सफल बनाने के कार्य में जुट जाते हैं, वे अपने गुणों में वृद्धि करते हुए सफलता की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाते हैं। उनमें जीवन पथ पर आने वाली बाधाओं, को पार करने की क्षमता होती है, बड़ी से बड़ी बाधा को आसानी से पार कर जाते हैं, (ऐसा इसलिए, क्योंकि यही बाधाएँ उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है) आचार्य तुलसी के शब्दों में "मानव का जीवन छाया और प्रकाशमय है, उसमें प्रकाश के साथ छाया में ही मनुष्य डूब जाए तो वह उसकी मदद करने वाली न होकर भारक होगी।

2.2 उद्देश्य–

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो जाऐगे कि–

(1) स्व या आत्म्न को परिभाषित कर सकेंगे।

(2) स्वयं का महत्व समझ सकेंगे।

(3) स्वयं का मूल्यांकन कैसे किया जाय, को जान सकेंगे।
(4) समाजीकरण की प्रक्रिया एवं प्रकृति को समझ सकेंगे।
(5) परिवार में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(6) समूह में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(7) समाज में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(8) दूर जन संचार में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(9) धर्म में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(10) स्कूल में में समाजीकरण की प्रक्रिया को समझेगें।
(11) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में स्व एवं स्वयं की पहचान को समझ सकेगें।

2.3 स्वयं की परिभाषा एवं अर्थ–

स्वयं रोजर्स के व्यतिव सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण संप्रत्यय है रोजर्स का मानना है कि धीरे–धीरे अनुभव के आधार पर प्रासंगिक क्षेत्र का एक भाग अधिक विशिष्ट हो जाता है, और इस भाग को ही रोजर्स ने आत्मन या स्व की संज्ञा दी है। रोजर्स का मानना है कि आत्मन या स्व कोई अलग क्षेत्र नहीं है, और न ही अलग से व्याप्त कोई विशिष्ट तत्व है, बल्कि स्व से आशय संपूर्ण प्राणी से है।

स्वयं का विकास शैशवावस्था से शुरू हो जाता है, और जैसे–जैसे शिशु की अनुभूतियों का एक अंश या अधिक मूर्त रूप प्राप्त करने लगता है, और स्वयं की विशेषताओं से अभिभूत हो जाते है।

स्व की यह विशेषता है कि यह संगठित ईकाई होते हुए भी एक प्रक्रिया है, एक ऐसी प्रक्रिया जो स्व को विकासशील रखती है लेकिन किसी एक समय में इसका एक सुनिश्चित स्वरूप होता है, जो व्यक्तित्व के तत्कालीन व्यवहार को एक निश्चित रूप प्रदान करता है।

अपने आप खुद को केन्द्रित या चिन्हित करने के लिए प्रयोग किया जाने वाला शब्द "शब्द" है। जब हम किसी ऐसी क्रिया की बात करते है, जो हमारे द्वारा खुद ही की जाती है, अर्थात् जिस क्रिया में हम खुद भाग लेते है, तो यह क्रिया स्वयं द्वारा की गई कहलाती है।

भारतीय संदर्भ में 'स्व' या आत्मन की अवधारणा एक सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ में विकसित होने वाली अवधारणा है।

2.4 स्वयं की समझ एवं महत्व–

स्वयं एक ऐसा आकर्षण का केन्द्र है, जिसके इर्द–गिर्द अनेक आवश्यकताएँ और लक्ष्य संगठित होते है, और आत्म दूसरों के संबंध में एक मनुष के विचारों और कार्यो की चेतना है।

आत्म से अभिप्राय– स्वयं के प्रति दृष्टिकोणों के विकास का परिणाम। आत्म या स्वयं के संप्रत्यय को एकीकृत रूप से न देखा जाय तो सामाजिक व अन्य संबंधों में स्थिरता और निरंतरता की संभावना नहीं रहती। हम एक तरीका ढूँढ सकते हैं, जिसके द्वारा सामाजिक परिस्थिति में समाजीकरण के परिणामस्वरूप स्वयं का विकास होता है। आत्म लंबी प्रक्रिया का परिणाम होता है, व्यक्ति के दूसरों के सदंर्भ में पदार्थो, समूहों, संस्थाओं तथा मृत्यु के संदर्भ के अर्थो 'आत्म' या 'स्वयं' शब्द का प्रयोग अहम् के अर्थ में एक एजेन्ट के रूप में जाना जाता है, जो अपनी पहचान की निरंतरता के लिए चेतन रहता है।

आइजेक के अनुसार– अनुभवात्मक अनुसंधान के अंतर्गत स्वयं से अभिप्राय व्यक्ति के इस प्रत्यक्षीकरण से समझ जाता है, जिसे वह स्वयं के बारे में करना है।

स्व के विकास में व्यक्ति के संज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक विषयगत अनुभवों की अहम् भूमिका होती है और साथ ही साथ उस व्यक्ति के स्वज्ञान, स्व प्रत्यक्षण आदि को भी स्वय को आधारभूत तत्व माना जाता है। स्व को परिलक्षित करना एक सामान्य गतिविधि एवं मानसिक उपलब्धि है।

व्यक्ति की प्रत्येक प्रकार की भूमिकाओं में उसके आत्म–प्रतिबिंब का प्रभाव पड़ता है, चाहे वह परिवार के एक सदस्य के रूप में हो, या कार्य परिस्थितियों में हो, या एक अधिगम के रूप अधिगम करते हुए परिस्तिथिजन्य कारणों से हो।

2.5 स्व या आत्मन को प्रभावित करने वाले कारक–

कोई भी व्यक्ति जन्म से ही किसी व किसी परिवार का सदस्य रहता है, जन्म होने के पश्चात् उसमें सीखने, ज्ञान और समझ के गुण विकसित होते ही वह अपने परिवार के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अनुभवों को ग्रहण करना या उनसे प्रभावित होने लगता है, बालक पर तात्कालिक प्रभाव ही नहीं पढ़ता, अपितु पूर्व जन्म का भी प्रभाव पड़ता है, घर एवं परिवार के वातावरण में अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के अनुभवों को ग्रहण करता है, परंतु उस पर किन लक्षणों का प्रभाव पड़ता है, इसकी भविष्यवाणी करना संभव नहीं है। स्व को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित है–

1. घर या परिवार
2. विद्यालय
3. समाज

4. मीडिया
5. परिणाम एवं घटनाएँ
6. सफलता
7. संस्कृति
8. आत्मविश्वास
9. बचपन
10. वातावरण
11. जीवन के अनुभव
12. लिंग
13. सामाजिक समूह

2.6 समाजीकरण की प्रकृति–

प्रत्येक शिशु जन्म के समय एक संगठित शारीरिक ढांचा मात्र होता है, वह न तो अपने बारे में जानता है, न ही समाज के बारे में। घर में, समाज में उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, यह सब उसे घर–परिवार के सदस्यों, रिश्तदारों, परिचितों के आचारण और उनके बताने से सीखने को मिलता है। इस प्रकार समाज में वह अपनी भूमिका निभाने लायक बनता है, सीखने की यह प्रक्रिया समाजीकरण कहलाती है।

जानसन के अनुसार हर चीज़ सीखना मात्र समाजीकरण नहीं है। सीखने की यही प्रक्रिया समाजीकरण हो सकती है, जिसकी मदद से व्यक्ति की भागीदारी समाज में संभव हो पाती है, समाज के विध्वंस करने के बारे में सीखना समाजीकरण नहीं है, दरअसल सीखने का उद्देश्य सामाजिक प्रक्रियाओं में भाग लेना एवं सामाजिक नियमों तथा शल्यों के अनुरूप अनुसरण करना होता है।

- समाजीकरण अनुशासन का पाठ पढ़ाता है।
- समाजीकरण प्रेरणा का स्त्रोत होता है।
- समाजीकरण कुशलता प्रदान करता है।
- समाजीकरण से व्यवहारों में अनुरूपता आती है।

2.7 समाजीकरण की प्रक्रिया –

बलक के समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म के कुछ समय बाद से ही प्रारंभ हो जाती है, समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार से ही आरंभ होती है। परिवार के सदस्य के रूप में बालक परिवार के अन्य सदस्यों से अंतः क्रियात्मक संबंध स्थापित करता ह। और उनके व्यवहारों का अनुकरण करता है। इस प्रकार अनुकरण करते हुए जाने–अनजाने बालक परिवार के अन्य सदस्यों की भूमिका भी अदा करने लगता है, अनुकरण आधार पर ही वह माता–पिता, भाई–बहन आदि की भूमिकाओं को सीखता है। उसके ये व्यवहार धीरे–धीरे स्थिर हो जाते है। अनुकरण के आधार पर ही वह माता–पिता, भाई–बहन आदि की भूमिकाओं को सीखता है, और ये व्यवहार धीरे –धीरे स्थिर हो जाते है। धीरे धीरे बालक अपने तथा पिता एवं अपने तथा माता के मध्य के अंतर को समझने लगता है, कि वह स्वयं क्या है? इस प्रकार स्वयं (Self) का विकास होता है, जो समाजीकरण का एक आवश्यक तत्व है।

स्माजीकरण के अंतर्गत व्यक्ति समाज की संस्कृत के बारे में सीखता है, उसी के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है, इसी समाजीकरण के माध्यम से ही समाज में संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अंतरित होती रहती है। इस प्रकार समाज एवं संस्कृति अनवरत रूप से थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ व्यवस्था की तरह चलते रहते है।

2.7.1 परिवार की भूमिका–

स्माजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है, जिसके फलस्वरूप नवजात शिशु आगे चलकर समाज का एक उत्तरदायी सदस्य बनता है। इस प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण बात बालक का पालन–पोषण कैसे किया जाए कि वह समाज का एक योग्य सदस्य कहलाए। समाजीकरण उन सभी प्रयासों के सामुहिक रूप को बोला जाता है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति अपने समाज और संस्कृति में जो मान्यता है, उनका अनुकरण करते हुए एक सफल नागरिक बने। अतः कह सकते है कि समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को समाज के द्वारा प्रदान की गई सामाजिक संस्कृतियों को ग्रहण करने से है, साथ ही समाज के कर्तव्य का पालन करते हुए समाज का क्रियाशील सदस्य बनने से है।

परिवार स्व एवं समाजीकरण की सबसे महत्वपूर्ण संस्था है। यही से बालक सर्वप्रथम समाजीकरण आरंभ करता है, इसी कारण परिवार बालक की सर्वप्रथम पाठशाला एवं माँ सर्वप्रथम शिक्षक है। परिवार ही वह जगह है, जहाँ से बालक आदर्श नागरिकता का पाठ सिखाता है। बालक के समाजीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित है–

- माँ की भूमिका

- अधिक लाड़
- माता–पिता का आपसी संबंध
- माता–पिता का बच्चे के साथ संबंध
- बच्चों का अन्य संबंधियों के साथ संबंध
- परिवार की आर्थिक स्थिति
- परिवार की बनावट
    - संयुक्त परिवार
    - असंयुक्त परिवार

2.7.2 समूह (Peer Group) की भूमिका–

सहपाठियों का या समूह का प्रभाव स्वयं के समाजीकरण में विशेष रूप से पड़ता है। यदि समूह के छात्र योग्य परिवारों के हों तो बालकों की आदतों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, और यदि छात्रों की समूह (Group) समाज के कार्यो में योगदान करता है। एवम् उनका परस्पर व्यवहार तथा शिष्टाचार भी समाजीकरण में सहायक होता है। बालक अपने मित्रों से बहुत कुछ सीखता है, क्योंकि एक ही आयु–समूह होन के कारण बच्चे एक–दूसरे को अत्यधिक प्रभावित करते है। बड़े होने पर बालक अपने साथी समूह में खेलता है, तो वह अनेक परिवारें से आए बालकों के संपर्क में आता है। और बोलचाल के ढंगों को सीखता है। प्रत्येक बालक एक–दूसरे को कुछ न कुछ सामाजिक व्यवहार के पाठ का शिक्षण देता है। समूह में रहकर बालक न्याय, सहयोग, अनुकूलन एवं प्रतिस्पर्धा आदि सामाजिक गुणों को अर्जित करता है, ये गुण विकसित होकर जीवन भर उसके काम आते है।

2.7.3 जनसंपर्क माध्यम की भूमिका–

टाज के इलेक्ट्रानिक युग में जन–माध्यम हमारे दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बन गया है, इनमें पत्र–पत्रिकाएँ, रेडियो, टैलीविजन, फिल्मों इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। बालकों के स्वयं के समाजीकरण में इन सभी की भूमिका आज बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। बालकों पर हुए विभिन्न अध्ययनों से यह पता चलता है कि विभिन्न जन–माध्यमों का उनके मूल्यों, आदर्शों, व्यवहार प्रतिमानों, दृष्टिकोण इत्यादि पर गहरा प्रभाव पड़ता है, रामायण तथा महाभारत जैसे धारावाहिकों ने बच्चों को परंपरागत भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों से परिचित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

2.7.4 धर्म की भूमिका–

धर्म स्वयं एवं समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण के सबसे महत्वपूर्ण एजेंडों में से एक है। सामाजिक जीवन के आयोजन और निर्देशन में इसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका है, मंदिर, मस्ज़िद, चर्च, गुरूद्वारा आदि जैसे संगठन समाज में धर्म एक महत्वपूर्ण काक हो धर्म का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के अनुशासन के उपकरणों और विधियों का उपयोग करके धर्म की मान्यताओं, प्रथाओं और संगठनात्मक रूपों का अध्ययन हैं धर्म समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण के सबसे महत्वपूर्ण एजेंटों में से एक है। सामाजिक जीवन के आयोजन और निर्देशन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

समाजीकरण धर्म एक महत्वपूर्ण कारक रहा हैं। धर्म सांस्कृतिक प्रणालियों, विश्वास प्रणालियों और विश्व साक्षात्कारों का एक संग्रह है, जो मानवता को आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों से संबंध्ति रखता है धार्मिक परंपराओं के प्रभाव में समाजीकरण के एजेंट अलग–अलग है। माता–पिता की धार्मिक भागीदारी धार्मिक समाजीकरण का सबसे प्रभावशाली हिस्सा है। प्रत्येक परिवार में, कुछ अन्य धार्मिक प्रथाओं को एक या दूसरे अवसर पर मनाया जाता है। बालक अपने माता–पिता को मंदिर में जाकर धार्मिक अनुष्ठान करता हुआ देखता है, वह धार्मिक उपदेश सुनता है, जो उसके जीवन के पाठ्यक्रम को निर्धारित कर सकते है, और उसके विचारों को आकार दे सकता है। समाजीकरण में धर्म बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं धार्मिक परंपराओं के प्रभाव में समाजीकरण के एजेंट अलग–अलग होते है।

2.7.5 स्कूल की भूमिका–

परिवार एवं पड़ौस के बाद स्कूल एक ऐसा स्थान है, जहाँ पर बालक का समाजीकरण होता है। स्कूल में विभिन्न परिवारों के बालक शिक्षा प्राप्त करने आते है, बालक इन विभिन्न परिवारों के बालक तथा शिक्षकों के बीच रहते हुए सामाजिक प्रतिक्रिया करता है, जिससे उसका समाजीकरण तीव्रगति से होने लगता है। स्कूल में रहते हुए बालक को जहाँ एक ओर विभिन्न विषयों की प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा सामाजिक नियमों, परंपराओं, मान्यताओं, विश्वासों तथा आदर्शों एवं मूल्यों का ज्ञान होता है। वहीं दूसरी ओर उसमें स्कूल की विभिन्न सामाजिक योजनाओं में सक्रिय रूप से भाग लेते हुए अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास होता रहता है। इस प्रकार परिवार एवं पड़ोस की भाँति स्कूल भी बालक के समाजीकरण का मुख्य साधन है।

2.9 व्यापक समाजशास्त्रीय संदर्भ और आत्म एवं पहचान के विकास पर समाजीकरण के प्रभाव के साथ जुड़ाव–

स्वयं को विकसित करने के महत्व को नेशनल युनीवर्सिटी ऑफ एजुकेशन प्लामिंग एवं एडमिनिस्ट्रेशन (NUEPA) द्वारा 2014 में प्रकाशित नेशनल प्रोग्राम डिज़ाइन एवं करूकुलम फ्रेमवर्क में छः मुख्य क्षेत्रों में से एक के रूप में प्रदर्शित किया।

DELED 04

Block-02 Self and Schooling

Unit-01 Schooling and Self Formation

प्रस्तावनाः–(Introduction)

विद्यालय वह स्थान है जहाँ शिक्षा प्रदान की जाती है। विद्यालय एक ऐसी संस्था है जहाँ बच्चों के शारीरिक, मानसिक बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास होता है। 'विद्यालय' शब्द के लिए आंग्ल भाषा में 'स्कूल' का प्रयोग होता है। जिसकी उत्पत्ति ग्रीक शब्द स्कोला से हुई है, जिसका तात्पर्य है 'अवकाश' ये अर्थ कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है लेकिन प्राचीन यूनान में अवकाश के स्थलों को ही विद्यालय के नाम से संबोधित किया जाता था। अवकाश काल को ही 'आत्म–विकास' (Self Development) समझा जाता जाता था एवं जिसका अभ्यास निश्चित स्थान पर किया जाता था धीरे–धीरे यही अवकाश स्थल एक निश्चित उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम का ज्ञान प्रदान करने वाली संस्थाएं अर्थात स्कूल बन गये। विद्यालय को विद्या का मंदिर कहा जाने लगा जहाँ शिक्षार्थी आइये और सेवार्थी जाइये का सद्वाक्य लिखा जाने लगा, समाजीकरण की दूसरी व औपचारिक अभिकरण के रूप में विद्यालय का प्रमुख स्थान है। बच्चे के सम्पूर्ण विकास के लिए विद्यालय की भूमिका अहम् है।

आत्म क्या है?

स्कूल या अन्य शैक्षिक संस्थान में कक्षा में ज्ञान प्राप्ति के पारंपरिक तरीकों के अलावा वहाँ शिक्षा के वैकल्पिक तरीके हैं।

स्कूल का अर्थ (Meaning of School)

स्कूल शब्द की उत्पत्ति एक ग्रीक शब्द ' Skhole ' से हुई है। इस शब्द का अर्थ है 'अवकाश' (Leisure) प्राचीन यूनान (Greece) में अवकाश के स्थानों को ही स्कूल के नाम से पुकारा जाता था अवकाश शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए ए.एफ. लीच (A.F. Leach) ने लिखा है "वाद–विवाद या वार्ता के स्थान जहाँ एथेन्स (Athens) के युवक अपने अवकाश प्रशिक्षण में व्यतीत करते थे धीरे–धीरे दर्शन तथा उच्च कक्षाओं के स्कूलों में बदल गये। एकेडमी

(Academy)के सुन्दर बागों में व्यतीत किये जाने वाले अवकाश के माध्यम से स्कूल का विकास हुआ।"

6.7 स्कूल एक सामाजिक संस्था के रूप में विद्यालय समाज का निर्माता (School as a Social Institution:Maker of a Nation)

6.8 स्कूल के महत्व कार्य तथा स्वरूप के विषय में विद्वानों के मत निर्माता (Views of scholars on the importance, functions and nature of school)

विद्यालय स्वनिर्माण की साइट के रूप में निर्माता (School as a site of self formation)

भारत के विद्यालयों को छात्रों के सीखने के उत्कृष्टता केन्द्रों में बदलने के स्वप्न को सच करने के लिए आवश्यक है कि विद्यालय प्रमुख अपने सम्पूर्ण कार्य जीवन में अपने कौशलों और ज्ञान का नवीनीकरण और अद्यतन करने का निजी दायित्व लें क्योंकि वे ही इस आंदोलन के केन्द्र बिन्दु हैं। व्यक्तिगत विकास आपके कौशलों और ज्ञान को विकसित करने आकार देने और सुधार करने की जीवन पर्यंत प्रक्रिया है ताकि विद्यालय भी कार्य क्षेत्र में अधिकतम प्रभावकारिता और सकारात्मक आत्म अवधारणा का विकास सुनिश्चित किया जा सके। स्वयं को विकसित करने के महत्व को नेशनल युनिवर्सिटी ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (NUEPA) द्वारा 2014 में प्रकाशित नेशनल प्रोग्राम डिजाइन एण्ड कारिकुलम फ्रेमवर्क में छात्र मुख्य होगें में से एक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसके लिए प्रत्येक विद्यालय प्रमुख में आत्म विकास और संस्थागत विकास के लक्ष्यों के बीच सामंजस्य की जरूरत है।

स्कूली बच्चों के सामान्य शैक्षिक कौशल का निर्माण और विकासः–

आधुनिक समाज में सामान्य शैक्षिक कौशल का गठन एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। इसका कारण आधुनिकता मनुष्य की तैयारी के लिए समाज की बढ़ती मांग है। एक बच्चा अपने समय का एक बड़ा हिस्सा विद्यालय के होमवर्क तैयार करने में खर्च करता है। वर्तमान में शैक्षिक संगठनों को छात्रों के सामान्य शैक्षिक कौशल के निर्माण का काम सौंपा जाता है। शिक्षक बच्चों को समकालीन वास्तविकता के वैज्ञानिक ज्ञान के लिए सिर्फ पास नहीं करता है, बल्कि उन्हें स्वतंत्र रूप से ज्ञान प्राप्त करना सीखाता है। नये शैक्षिक मानको के ढाँचें के भीतर प्रत्येक बच्चे के लिए एक व्यक्तिगत विकास प्रक्षेपवक्र का निर्माण किया जाता है। शिक्षक

केवल सामान्य शैक्षिक कौशल के गठन को नियंत्रित करता है, और यदि आवश्यक हो तो छात्र के आत्म विकास को सही करता है।

विद्यालय औपचारिक शिक्षा के रूप में:–ऐसी शिक्षा जो एक व्यवस्थित, तर्कपूर्ण तथा योजनाबद्ध तरीके से दी जाती है उसे औपचारिक शिक्षा कहते हैं। हैन्डरसन के अनुसार जब बालक को सचेत करके और विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर पढ़ाया जाता है तो वह शिक्षा औपचारिक शिक्षा कहलाती है। ड्यूबी ने कहा है कि औपचारिक शिक्षा वह शिक्षा है जिससे समाज की जटिल धरोहर को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है।

शिक्षा तथा विद्यालयीकरण:–

1. शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास से है।
2. शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है यह जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है।
3. शिक्षा का स्वरूप स्वाभाविक होता है।
4. शिक्षा में विस्तृत पाठ्यक्रम होता है तथा विभिन्न विषयों एवं क्रियाओं का समावेश होता है।
5. शिक्षा में औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की संस्थाएं शामिल हैं।
6. स्कूलिंग में मानसिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है।
7. विद्यालयीकरण शिक्षा का प्रमुख अंग है। यह विषय प्रधान होता है।
8. इसमें केवल औपचारिक संस्थाएं शामिल हैं।
9. स्कूलिंग में उत्तीर्ण होने पर प्रमाण पत्र दिये जाते हैं।
10. स्कूलिंग में प्रदान किया गया ज्ञान केवल परीक्षा की दृष्टि से प्राप्त किया जाता है।

आत्मगठन पर स्कूली शिक्षा पर प्रभाव:–

शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य स्थान, जाति, देश और समय के साथ बदल जाते हैं। अपनी आवश्यकता के अनुसार विभिन्न देशों के विचारकों ने शिक्षा का अर्थ अलग–अलग तरीके से बताया है। महात्मा गांधी के अनुसार स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करना ही शिक्षा है। सामाजिक कार्यकर्ताओं और समाजशास्त्रियों ने अच्छे नागरिक बनाना विद्ववानों से ज्ञान प्राप्त करना धर्मगुरूओं से नैतिकता एवं प्रकृति प्रेमियों से वैयक्तिक विकास सीखने पर बल दिया है।

1. मानव प्रकृति (Human Nature)

   मानव स्वभाव की जटिलताओं के कारण शिक्षा के अर्थ बदल जाते हैं। मानव का वैयक्तित्व भिन्न तत्वों पर आधारित होता है। इसमें शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक एवं आत्मिक क्षमताओं के अनुसार अलग–अलग अर्थ निकलते हैं।

2. वातावरण की विभिन्नताः– मानव विकास उपस्थित स्थान के वातावरण पर निर्भर करता है। सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक वातावरण की विभिन्नताएं ही मानव जीवन के रहन–सहन के तरीकों को निर्धारित करती हैं। शिक्षा भी जीवन के अनुरूप होनी चाहिये।

3. राजनीतिकः–राजनीतिक विचारधाराएं सीधे समाज को प्रभावित करती हैं। शिक्षा संबंधी योजनाएं मूर्त रूप लेकर शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा करने में मददगार साबित होती हैं।

4. भौगोलिकः–भारत की भौगोलिक परिस्थितयाँ विभिन्न हैं। जलवायु, तापमान, फसलें एवं संसाधन किसी भी देश की शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करती हैं।

5. आर्थिकः–आत्मगठन पर आर्थिक स्थिति का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। एक बालक जिसकी परवरिश उच्च कुल में एवं आवश्यक सुख–सुविधाओं के साथ होती है वह एक सुख–सुविधाओं के अभाव रहित परिस्थिति में हुई बालक से भिन्न है।

6. आध्यात्मिकः–विद्यालय का वातावरण बालक की आध्यात्मिक प्रवृत्ति को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। विद्यालय में होने वाली प्रार्थना सभाएं बालक के आत्मगठन और नैतिक विकास में सहायक होती हैं।

7. सांस्कृतिकः–भारत एक सांस्कृतिक विविधताओं का देश है। जहाँ की संस्कृति वेशभूषा खानपान, रहन–सहन अलग–अलग होता है तथा बालक के व्यक्तित्व विकास में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान है।

8. सामाजिकः–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एवं उसका विकास समाज में रहकर एवं गतिविधियों में भाग लेकर ही संभव है। बालक के सामाजिक विकास में परिवार के बाद विद्यालय का महत्वपूर्ण योगदान होता है। विद्यालय की गतिविधियों में भाग लेकर ही बालक का उचित विकास संभव है।

9. धार्मिकः—भारत देश में विभिन्न धर्मो को मानने वाले लोग निवास करते हैं। मूल्यों के विकास में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्रत्येक धर्म अच्छे मूल्य विकसित करने में सहायक होते हैं।
10. दार्शनिकः—दर्शन और आत्मगठन का घनिष्ट संबंध है। दार्शनिक विचार व्यक्ति के द्वारा तय किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करते हैं। भारतीय दर्शन शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करते हैं।

शिक्षा प्रणाली को मूलभूत सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के विकास पर बल देना चाहिये। इस दृष्टि से सभी विद्यालयों में मूल्यों की शिक्षा को अभिन्न अंग बनाने के अतिरिक्त इस प्रयोजन के लिए समय सारणी के कुछ घंटे अलग रखे जाने चाहिये। यह घंटे विशेष रूप से भर्ती किये गये शिक्षकों द्वारा नही, अपितु इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त समझे गये सामान्य शिक्षकों द्वारा लिया जाये। और यदि वह विभिन्न समुदाय के हो तो अधिक अच्छा होगा। शिक्षकों के प्रशिक्षण में इस प्रकार के शिक्षकों को तैयार करना भी एक लक्ष्य होना चाहिये।

शिक्षण अधिगम अभ्यास एवं कक्षाकक्ष में अध्यापक के अनुदेशन, मूल्यांकन, मूल्य ढाँचें और छिपा हुआ पाठ्यक्रमः—

रूसो का कहना है कि निर्बलता दण्डता की जननी है। अतः बालकों को शक्तिशाली बनाया जाये बाल्यकाल बुद्धि की सुप्त अवस्था है तथा अध्यापक को बच्चे की नींद में बाधा नही डालनी चाहिये। बाल्यकाल में बालकों को ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा देनी चाहिये। बालक की ज्ञानेन्द्रियों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग में लाने से बालक में आकार,रंग, रूप एवं स्थिति के ज्ञान का विकास होता है। रूसो के अनुसार इस अवस्था में पुस्तकीय ज्ञान नही देना चाहिये इससे बालक में सोचने समझने की शक्ति खत्म हो जाती है। युवावस्था में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी जानी चाहियेः

1. भौतिक विज्ञान इन विषयों से बच्चों में खोज करने की प्रवृत्ति का विकास होता है।
2. हस्तशिल्प गांधीजी ने हस्तशिल्प पर बल दिया था इससे छात्रों में अनेक गुणों का विकास होता है।

3. गणित इस विषय से तर्क करने की शक्ति और स्पष्ट चिंतन करने का विकास होता है।
4. चित्रकला से नैतिक विकास एवं मांसपेशियों के विकास में बहुत सहायता मिलती है।

आत्मगठन के लिए क्रिया द्वारा सीखना के सिद्धांत पर बल दिया गया है। शिक्षा केवल व्याख्यान प्रणाली द्वारा नही होनी चाहिये। बालक को करके सीखने के अवसर प्रदान किये जाने चाहिये एवं प्रयोग करके विषयवस्तु को समझाना चाहिये

पेस्टालॉजी ने पाठ्यक्रम में गणित, चित्रकला, प्रकृति का निरीक्षण एवं संगीत शिक्षा पर बल दिया है। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के द्वारा छात्रों को उनके अन्तःकरण के अस्तित्व से परिचित कराया जा सकता है।

ड्यूवी ने प्रचलित पाठ्यक्रम की आलोचना की तथा नवीन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया जैसे उपयोगिता का सिद्धांत, सामाजिक अनुभवों का सिद्धांत, पाठ्यक्रम बालक की रूचियों के अनुसार, जीवन से पाठ्यक्रम का संबंध एवं क्रिया द्वारा नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा जैसे विषयों को अलग से पढ़ाना उचित नही समझा बल्कि उनके विचार में सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने से उचित नैतिक तथा धार्मिक गुणों का विकास होता है जो कि व्यक्ति के आत्मगठन में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। इनके अनुसार अध्यापक योजना नायक, पथ प्रदर्शक तथा निरीक्षक है। उसे बालकों पर अपनी आज्ञाएं नही थोपनी चाहिये शिक्षक शैक्षिक प्रक्रिया के नाटक का कलाकार न होकर उसका संयोजक होता है। वह बालकों के लिए सुंदर सामाजिक वातावरण का निर्माण करता है।

ड्यूवी के विद्यालय के विषय में विचारः–

ड्यूवी ने अपने समय के विद्यालयों की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने अनुभव किया कि विद्यालयों का समय के साथ न बदलना ही सबसे बड़ा दोष है। औद्योगिक विकास के कारण तथा वैज्ञानिक आविष्कारों से समाज में बड़ा परिवर्तन आया है। अतः इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता विद्यालयों में भी है। ड्यूवी के अनुसार विद्यालय एक सामाजिक संस्था है। यह समाज से जुड़ी रहनी चाहिये, साधारण रूप से स्कूल एक सामुदायिक जीवन

है जिसमें वह सभी साधन केन्द्रित हैं जो बच्चें को समाज के परम्परागत स्त्रोतों का उपयोग करने तथा सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए क्षमता प्रदान करते हैं।

ड्यूवी के अनुसार आदर्श स्कूल की निम्न विशेषताएं हैं–

1. आदर्श परिवार–स्कूल एक बड़े परिवार की भांति है एवं प्रत्येक सदस्य परस्पर स्नेह तथा विश्वास रखकर सहयोग के साथ कार्य करते हैं।
2. आदर्श लघु समाज–स्कूल समाज का ऐसा दर्पण है जो समाज की अच्छाईयों और बुराईयों की ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित करता है तथा विद्यालय के रूप में लघु समाज का आदर्श वातावरण प्रस्तुत करता है। समाज की कुरीतियों से बालकों को अवगत कराकर सावधान करता है।
3. करके सीखने की व्यवस्था–भाषण आदि पर जोर न देकर करके सीखने पर बल देते हैं।
4. स्कूल प्रयोगशाला–स्कूल का कार्य छात्रों को आनंददायक वातावरण प्रदान करना है जिसमें छात्र सृजनात्मक शक्तियों का विकास करते हुए अन्वेषण का आनंद ले सकें।

आत्म संघर्ष के साथ मुकाबलाःशिक्षा की भूमिका

आत्म संघर्ष स्वयं की भावनाओं के बीच विरोध है। हमारे अपने विचारों में द्वन्द्व, मतभेद, प्रतिरोध एवं विरोध हो सकता है। इस अन्तःद्वन्द्व को आत्मसंघर्ष कहा जा सकता है संघर्ष अपने स्वप्नों को प्राप्त करने का भी हो सकता है। यह संघर्ष परिस्थितियों से होता है जिसमें व्यक्ति स्वयं को संघर्ष की स्थिति में पाता है। संघर्ष मानव संबंधों में सतत् रहने वाली प्रक्रिया है जब व्यक्ति के बीच सहयोग नही होता अथवा जब वे एक दूसरे के प्रति तटस्थ भी नहीं होते, तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संघर्ष को समाज में अस्वाभाविक भी नही कहा जा सकता क्योंकि जब सीमित लक्ष्यों को अन्य व्यक्ति प्राप्त करना चाहें तो संघर्ष स्वाभाविक ही है।

Conflict शब्द लेटिन भाषा के Con एवं Fligo शब्द से मिलकर बना है जिसका अर्थ है प्रभुत्व के लिये संघर्ष करना संघर्ष अनेक स्वरूपों में दिखाई देता है। व्यक्तिगत संघर्ष से

प्रारंभ होकर प्रजातीय व वर्ग संघर्ष की सीढ़ियाँ चढ़ते–चढ़ते जातीय संघर्ष में परिवर्तित हो जाता है एवं राजनीतिक स्तर के राष्ट्रीय व अर्न्तराष्ट्रीय संघर्ष में बदल जाता है।

आत्मसंघर्ष को कम करने के लिए शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। समाज से गायब हो रहे मूल्यों को बनाये रखना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। मूल्य ही मनुष्य के लिए उद्देश्य, लक्ष्य उचित मनोरंजन साध्य बनाते है। मनुष्य अपना पूरा जीवन इनकी प्राप्ति में लगा देता है जैसे गांधीजी ने सत्य के लिए अपना पूरा जीवन लगा दिया। इन्हीं मूल्यों से मनुष्य में श्रद्धा विश्वास, प्रेरणा कर्त्तव्य और वफादारी उत्पन्न होती है। इन्हें प्राप्त करने के लिये जीवनपर्यंत क्रियाशील रहता है, सीखता है और अनुभवों की निरंतर अभिवृद्धि करता है। छात्रों को मूल्य शिक्षा देना आसान है परन्तु मूल्य सीखा पाना कठिन है। विद्यालय की औपचारिक एवं अनौपचारिक गतिविधियों को हमें इस प्रकार संगठित करना होगा जिससे हम प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से छात्रों के अंदर मूल्यों का विकास कर सकें।

सारांशः–

स्कूली शिक्षा और बालकों का आत्मगठन का आपस में गहरा संबंध है। विद्यालयीन शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियाँ बालकों के चहुमुखी विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। बालक का सामाजीकरण परिवार से प्रारंभ होकर सतत् रूप से विद्यालय में होता रहता है। विद्यालय को समाज का लघुरूप कहा जाता है जो कि बालक के व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करता है। जिस प्रकार की स्कूली शिक्षा बालकों को दी जाती है उसी प्रकार का उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। विद्यालय की संस्कृति अनुशासन एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया शिक्षकों के द्वारा दिये गये व्याख्यान मूल्यांकन पद्धति का सीधा प्रभाव बालक के विचारों पर पड़ता है। वर्तमान में संघर्ष अशांति हिंसा एवं आतंकवाद हमारी सामाजिक संरचना एवं मानवता के साथ विश्वशांति के लिए गंभीर खतरा बन चुका है। अतः शांति एवं स्थिरता के लिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिये कि हिंसा, संघर्ष और आतंकवाद जैसे बुराईयों पर तत्काल विराम लग सके। शिक्षाशास्त्रियों की धारणा है कि देश के युवावर्ग में व्याप्त सामाजिक मूल्यों के विघटन सामाजिक एवं जातीय भेदभाव के कारण मानव चरित्र की आधारशीला, शिक्षा के गुणात्मक एवं सकारात्मक अवमूल्यन का परिणाम है। अतः औपचारिक रूप से शांति शिक्षा देने में विद्यालय महत्वपूर्ण है। जिसमें

विभिन्न गतिविधियों और आत्मगठन के लिए कार्यक्रम करवाये जा सकते हैं। अनौपचारिक रूप से विद्यालय के बाहर की जाने वाली वह गतिविधियाँ शामिल हैं जिनसें अप्रत्यक्ष रूप से हमेशा शांति का संदेश मिलता है। एक पूर्ण नागरिक बनने के लिए हमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा की उस धारा से जुड़ना पड़ेगा जो हमें तनावरहित, अवसादरहित और जीवन जीने योग्य बनाये, एक अच्छा इंसान बनने के लिए मूल्य, आध्यात्म, सकारात्मक चिंतन तथा श्रेष्ठ विचारों के प्रति उत्साहित करें इसके लिए शांति एवं मूल्य शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही है। विद्यालय का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम शांति और मूल्य पर आधारित होना चाहिये। शिक्षक का व्यक्तित्व, विद्यालय का वातावरण, शिक्षक विद्यार्थी संबंध में सुधार होना चाहिये। विद्यालय के बाहर भी शांति पर आधारित गतिविधि द्वारा सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तःर्राष्ट्रीय दृष्टि से शांति स्थापित कर बालकों का स्वनिर्माण किया जा सकता है।

निहित कार्य–

प्रश्न–1.विद्यालय बालकों के स्वनिर्माण में किस प्रकार सहायक है समझाइये?

प्रश्न–2 आत्मगठन पर स्कूली शिक्षा के प्रभाव का वर्णन कीजिये।

प्रश्न–3 आत्मगठन में शिक्षण अधिगम अभ्यास, पाठ्यक्रम एवं मूल्यांकन की भूमिका की चर्चा कीजिए।

प्रश्न–4 संघर्ष से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न–5 आत्मसंघर्ष से बचने के लिए शिक्षा की भूमिका समझाइये।

संदर्भः–

Unit II Evolving a 'constructive self' as a teacher

- **The Impact of one's own socialization processes; awareness of one's own shifting identities as student and teacher learner, and influences that have acted/continued to act on oneself**
- **Reflections on one's own aspirations in becoming a teacher**
- **Evolving a constructive identity as a teacher (that is progressive and open to re-construction)**
- **Teacher's 'professional identity'**

खण्ड – 2

यूनिट II एक शिक्षक के रूप में ' स्वयं' कारचनात्मक' विकास करना

प्रस्तावना– इस इकाई में एक शिक्षक के रूप में स्वयं का रचनात्मक विकास एवं शिक्षक की भूमिकाओं के बारे में अध्ययन करेंगे। शिक्षक के गुण उसके पेशेवर एवं विशेषताओं को जानना एवं अच्छे शिक्षक बनने के लिए किस तरह के प्रयासों को जाना चाहिए। उन गुणों को व्यक्त किया गया है, क्योंकि समाज में शिक्षक की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है जिससे समाज का विकास होता है। समाज के विकास के लिए शिक्षक का स्वयं का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है।

इकाई के उद्देश्य – (1) इस इकाई में एक शिक्षक के रूप में स्वयं का विकास करना कितना महत्वपूर्ण है एवं उनके प्रभावों (स्वयं के विकास) को समझेंगे।

(2) शिक्षक बनने हेतु स्वयं की आकांक्षाओं के ज्ञान से भी अवगत होंगे।

(3) एक शिक्षक के रूप में स्वयं की रचनात्मक पहचान विकसित करने के तरीकों के बारे में भी ज्ञान प्राप्त कर पाऐंगे। अर्थात शिक्षक के रूप में अपने आप को रचनात्मक तरीके से प्रस्तुत करना एवं विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करना आदि।

(4) इस इकाई के द्वारा पेशेवर का अर्थ एवं शिक्षक की भूमिका या पहचान के बारे में जानेंगे।

इकाई 2.1 – किसी की स्वयं की समाजीकरण प्रक्रियाओं का प्रभाव : एक छात्र और शिक्षक शिक्षार्थी के रूप में अपनी स्वयं की पहचान के बारे में नागरूकता और उन कार्यो को प्रभावित करता है जिन्होंने अपने आप कार्य किया।

इकाई 2.2 – शिक्षक बनने के लिए स्वयं की आकांक्षाओं पर विचार–

2.2.1 – विकास की जरूरतों को पहचाने

2.2.2 – सीखने के अवसरों की पहचान करें

2.2.3 – कार्यवाही योजनाओं का सूत्रीकरण करें

2.2.4 – विकास का बीड़ा उठाये

2.2.5 – परिणामों को दर्ज करें

2.2.6 – निगरानी, मूल्यांकन और समीक्षा करें

अच्छे लक्ष्य के प्रमुख पहलु–

(1) विशिष्ट

(2) मापन योग्य

(3) साध्य

(4) यथार्थवादी
(5) समयबद्ध

इकाई 2.3 – एक शिक्षक के रूप में रचनात्मक पहचान करना
(1) स्थानीय परिवेश के अनुसार अनुकूलन
(2) विद्यार्थियों की सांस्कृतिक पारिवारिक परिस्थितियों का ज्ञान
(3) स्थानीय टीएलएम
(4) उचित समूह निर्माण

इकाई 2.4 – शिक्षक की पेशेवर पहचान
2.4.1 – पेशेवर का अर्थ
2.4.2 – पेशेवर के मुख्य मापदंण्ड

Unit 2.1 किसी की स्वयं की समाजीकरण प्रक्रियाओं का प्रभाव:

सामाजीकरण (Socialization) वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य समाज के विभिन्न व्यवहार, रीति-रिवाज़, गतिविधियाँ इत्यादि सीखता है। जैविक अस्तित्व से सामाजिक अस्तित्व में मनुष्य का रूपांतरण भी सामाजीकरण के माध्यम से ही होता है। सामाजीकरण के माध्यम से ही वह संस्कृति को आत्मसात् करता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया मनुष्य का संस्कृति के भौतिक व अ-भौतिक रूपों से परिचय कराती है। सीखने की यह प्रक्रिया समाज के नियमों के अधीन चलती है। समाजशास्त्र की भाषा में कहें तो समाज में अपनी परिस्थिति या दर्जे के बोध और उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम सामाजीकरण के ज़रिये ही आत्मसात् करते हैं। सामाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक रूप से क्रियाशील बनाता है। इसी के माध्यम से संस्कृति के अनुरूप आचरण करने का विवेक विकसित होता है। इसके लिए व्यक्ति द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों का जो अभ्यंतरीकरण किया जाता है वह सामाजीकरण का ही रूप है।पर सामाजीकरण के विश्लेषण और अध्ययन में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मानदण्डों व संस्कृति की सबसे ज़्यादा अहमियत होती है। इन्हें अस्वीकार कर जो कुछ सीखा जाता है, जैसे हत्या, चोरी या अन्य आपराधिक वारदातें करना, उन्हें सामाजीकरण में नहीं गिना जाता बल्कि इनकी गिनती विपथगामी व्यवहार में होती है। इन्हें सीखने वाला व्यक्ति समाज की मुख्यधारा के विपरीत माना जाता है। वह समाज में सकारात्मक योगदान देने की अवस्था में भी नहीं रहता है। इन नकारात्मक क्रियाओं और आचरणों को प्रायः विफल सामाजीकरण के उदाहरण की तरह देखा जाता है। इस प्रकार सामाजीकरण व्यक्ति को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बना कर समाज की क्रियाओं में

भाग लेने में समर्थ बनाता है। सामाजीकरण की एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह जीवन-पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति की परिस्थिति व सामाजिक भूमिकाएँ बदलती रहती हैं और उनके अनुरूप व्यवहार के लिए उसे आचरण तथा व्यवहार के नये प्रतिमान सीखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बचपन में जहाँ बच्चा सामाजीकरण के माध्यम से माता-पिता, संबंधियों व बुज़ुर्गों से व्यवहार करना सीखता है, वहीं युवावस्था में उसे नये सिरे से दफ्तर में अपने सहयोगियों, वरिष्ठों, पड़ोसियों आदि से व्यवहार के तौर-तरीकों को सीखना पड़ता है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी व्यक्ति नयी भूमिकागत अपेक्षाओं के अनुसार संबंधित सामाजिक व्यवहार ग्रहण करता है। इस प्रकार सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक लगातार चलती रहती है।

सामाजीकरण में सीखे गये सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य देश-काल सापेक्ष होते हैं। इसलिए सामाजीकरण की प्रक्रिया भी देश-काल सापेक्ष होती है। जैसे कि कुछ कबायली जातियों में बच्चों को अस्त्र-शस्त्र का प्रशिक्षण देने पर और शहरी समाजों में बच्चों को औपचारिक शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया जाता है। भारत जैसे जाति-भेद आधारित समाज में जातिगत पेशों तथा कर्मकाण्डीय स्थिति के अनुसार भी सामाजीकरण होता रहा है। जैसे कि निम्न जाति के बच्चों को कृषि, दस्तकारी व शारीरिक श्रम के लिए तैयार किये जाने का चलन था, जबकि ब्राह्मण बालकों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। विश्व के अलग-अलग भागों की संस्कृतियों में काफ़ी भिन्नता है, इसलिए सामाजीकरण स्थान सापेक्ष है। यह काल-सापेक्ष इस प्रकार है कि गुज़रे ज़माने में भारतीय समाज में स्त्रियों के लिए पर्दा करना, शर्माना और धीमे स्वर में बोलना आदर्श व्यवहार था। जबकि आज स्त्री-पुरुष बराबरी के युग में स्त्रियों से इस तरह के सामाजिक व्यवहार की अधिक अपेक्षा नहीं की जाती। पहले बच्चों को चरण-स्पर्श की शिक्षा दी जाती थी, जबकि आज वे बॉय-बॉय करते हैं। यानी मूल्यों व विकास के पैटर्न में बदलाव ने सामाजीकरण की विधि को भी बदल दिया है। समाजशास्त्रियों ने सामाजीकरण की पूरी प्रक्रिया को दो हिस्सों में विभक्त किया है : प्राथमिक सामाजीकरण और द्वितीयक सामाजीकरण। यह विभाजन समाज के प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के विभाजन पर आधारित है। प्राथमिक सामाजीकरण परिवार, पड़ोस एवं नातेदारी, मित्र-समूह व आरम्भिक स्कूली शिक्षा के माध्यम से होता है जिसमें बच्चा समाज का सहभागी सदस्य बनने के बारे में बहुत कुछ

सीखता है। परिवार को सार्वभौम मान कर सामाजीकरण में इसे आधारभूत संस्था के रूप में देखा जाता है। इसके तहत सहयोग, सहानुभूति, सहायता तथा आदान-प्रदान के गुणों का विकास होता है। भाई-बहनों का प्रेम, बड़ों के प्यार तथा नियंत्रण की व्यक्ति के सामाजीकरण में ख़ास भूमिका होती है। द्वितीयक सामाजीकरण किशोरावस्था से आरम्भ होता है जिसमें व्यक्ति अधिक औपचारिक वातावरण की आवश्यकताओं के अनुसार आचरण करना सीखता है। इस अवस्था में कॉलेज-विश्वविद्यालय, राजनीतिक संस्थाएँ, बाज़ार व दुकान जैसी आर्थिक संस्थाएँ, सांस्कृतिक संस्थाएँ, दफ्तर व फ़ैक्ट्री जैसे व्यवसाय-समूह आदि को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने में मदद करते हैं।सामाजीकरण सामाजिक नियंत्रण की समस्या का भी सही समाधान प्रदान करता है। सामाजिक नियंत्रण में मुश्किल तब आती है जब लोग सामाजिक मानदण्डों के अनुसार व्यवहार नहीं करते। सामाजीकरण से समाज के सभी सदस्य एक सी सामाजिक स्थिति में एक सा व्यवहार करते हैं और समाज में संतुलन, शांति तथा सामंजस्य बरकरार रहता है। सामाजीकरण के अंतर्गत वि-सामाजीकरण जैसे प्रत्यय का प्रयोग भी किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि नकारात्मक सामाजीकरण के प्रभाव में समाज विरोधी आचरण करना सीख चुके लोगों को इस प्रकार का आचरण करने के लिए हतोत्साहित किया जाए। उदाहरण के लिए किसी आपराधिक चरित्र के व्यक्ति को दण्ड देकर या समझा- बुझाकर अपराधों से मुक्त करा दिया जाए तो वह उसके लिए एक प्रकार से वि-सामाजीकरण होगा। वि-सामाजीकरण इस रूप में भी दिखता है कि व्यक्ति पहले की शिक्षाओं को जैसे बुज़ुर्गों के चरण स्पर्श करने, हवन-पूजा करने तथा मांसाहार न करने जैसे व्यवहार को बड़े होने पर भूल जाए। इसे सीखे हुए व्यवहार की वि-सामाजीकरण कहा जा सकता है। पुनर्सामाजीकरण भी इसी से जुड़ी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति की जीवन-शैली व विचारों में परिवर्तन घटित होता है। फ़ौज की सेवा में व्यक्ति को पूरी तरह से जीवन की नयी शैली का प्रशिक्षण मिलना, किसी अपराधी को सकारात्मक विचारों की ओर आकृष्ट करना, विवाहोपरांत स्त्री का भिन्न जीवन-शैली वाले घर के अनुसार स्वयं को ढालना इसी पुनर्सामाजीकरण के उदाहरण हैं। सामाजीकरण को विभिन्न विचारकों और समाजशास्त्रियों ने सिद्धांतों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है जिनमें जी.एच. मीड, चार्ल्स कूले, एमील दुर्खाइम प्रमुख हैं। मीड ने मुख्य रूप से सामान्यीकृत अन्य की धारणा को आधार बनाया है। इसमें दूसरों के अपने संबंध में विचारों व अपेक्षाओं को कोई बच्चा एवं वयस्क

आंतरिकीकृत करता है। बाल्यजीवन में कोई बच्चा दूसरों के कामों की कल्पना करके उसके ज़रिये स्वयं को देखता है। इस प्रकार वह सामाजिक दृष्टि से अपनी इयत्ता का निर्धारण करता है। चार्ल्स कूले ने अपने सिद्धांत की व्याख्या दर्पण में आत्मदर्शन के आधार पर की है। कूले के मुताबिक बच्चे की इयत्ता का निर्धारण तीन अवस्थाओं से होता है। पहला, वह जानना चाहता है कि दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं। दूसरा, वह दूसरों की राय के संदर्भ में अपने बारे में पैदा सोच को समझने की चेष्टा करता है। तीसरा, वह अपने बारे में सोचते हुए अपने को अच्छा या बुरा, श्रेष्ठ या हीन समझने लगता है। कूले की मुख्य प्रस्थापना यह है कि व्यक्ति एक लम्बी प्रक्रिया में अपने बारे में धारणा बनाता है और यह धारणा दूसरों की सहायता से ही निर्मित होती है। दुर्खाइम ने सामाजीकरण को सामाजिक तथ्य और सामूहिक प्रतिनिधान के माध्यम से समझाने की कोशिश की है। उनके मुताबिक समाज की परम्पराएँ, मूल्य, मानदण्ड, सामूहिक विश्वास आदि सामाजिक तथ्य व्यक्ति से ऊपर होते हैं। व्यक्ति को जन्म से इनकी विरासत मिलती है। इनकी रचना व्यक्ति की अकेलीइकाई के हाथों न होकर समूह द्वारा बनाये होती है। ये व्यक्ति से बाहर हैं और उसके ऊपर बाध्यता भी आरोपित करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति सामाजीकरण के रूप में इन सामूहिक प्रतिनिधानों को आत्मसात् करते हुए समाज की सक्रिय तथा उपयोगी इकाई बनता है जिससे समाज में एकता भी बनी रहती है।छात्र और शिक्षक शिक्षार्थी के रूप में अपनी स्वयं की शिफ्टिंग पहचान के बारे में जागरूकता, और उन कार्यों को प्रभावित करता है जिन्होंने अपने आप पर कार्य किया है

Unit 2.2 शिक्षक बनने के लिए स्वयं की आकांक्षाओं पर विचार

व्यक्तिगत विकास आपके कौशलों और ज्ञान को विकसित करने, आकार देने और **सुधार** करने की जीवन-पर्यंत प्रक्रिया है ताकि विद्यालय की कार्य **क्षेत्र** में अधिकतम प्रभावकारिता और सकारात्मक आत्म-अवधारणा का विकास सुनिश्चित किया जा सके। व्यक्तिगत विकास का मतलब आवश्यक रूप से ऊर्ध्वगामी गति (यानी, पदोन्नति) ही नहीं होता। बल्कि, इसका मतलब अपने विद्यालय का नेतृत्व करने में अपने कार्य-प्रदर्शन का सुधार करने में आपको सक्षम करना है।

व्यक्तिगत विकास के लिए समय निकालना व्यस्त विद्यालय प्रमुखों के लिए चुनौती है। इसलिए यह इकाई आपके कार्यक्रम में जगह बनाने में आपको सक्षम करने के लिए दो महत्वपूर्ण मुख्य कौशलों पर ध्यान केंद्रित करती है: समय का प्रबंधन और प्रतिनिधित्व फिर यह इस बात की खोजबीन करेगी कि आपकी हरकतों को उद्देश्यपूर्ण (एक व्यक्तिगत विकास योजना के उपयोग से) और प्रभावी (SMART उद्देश्यों के उपयोग से) बनाते हुए व्यक्तिगत विकास के लिए निकाले गए आपके समय का सदुपयोग कैसे करना चाहिए।

स्वयं को विकसित करने के महत्व को नेशनल युनिवर्सिटी ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (NUEPA) द्वारा 2014 में प्रकाशित नेशनल प्रोग्राम डिजाइन एंड करिकुलम फ्रेमवर्क में छह मुख्य क्षेत्रों में से एक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसे भारत में विद्यालयों का रूपांतरण और विद्यालय प्रमुखों का व्यावसायिक विकास संभव करने के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए प्रत्येक विद्यालय प्रमुख में आत्म- विकास और संस्थागत विकास के लक्ष्यों के बीच सामंजस्य की जरूरत है।

- अपने कार्य की प्राथमिकता तय करना, अन्य लोगों को प्रतिनिधायन (Delegate) करना और अपने समय का प्रभावी उपयोग करना।
- अपने व्यक्तिगत और व्यावसायिक विकास की योजना बनाना।
- स्वयं के लिए SMART लक्ष्य निर्धारित करना।

आपकी दैनिक गतिविधि सूची आपके काम के विवरण या काम की सूची

- दिशा प्रदान करना
- अच्छी **शिक्षण** पद्धतियां निश्चित करना

- कार्य निष्पादन का प्रबंधन करना
- अन्य लोगों के काम करने का समर्थन करना
- प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व/कर्तव्यों की व्याख्या करना
- सुनिश्चित करना कि आपका स्टाफ प्रेरित बना रहे, उनको दिया गया काम पूरा करे, और व्यावसायिक/वृत्तिक स्तर बनाए रखे।

व्यावसायिक विकास की योजना बनाना

व्यक्तिगत या व्यावसायिक विकास योजना (पीडीपी) एक सावधानीपूर्वक नियोजित दस्तावेज है जो उन मुख्य क्षेत्रों को प्रदर्शित करता है जिन्हें आपने किसी भी नियोजन चक्र में विकास के लिए पहचाना है।

- आपके वर्तमान कौशलों, योग्यताओं और आकांक्षा का आकलन करना
- आपकी कौशलों, जानकारी या योग्यताओं की जरूरत की पहचान करना
- लक्ष्य और उद्देश्य स्थापित करना – विद्यालय प्रमुख के रूप में लघु, मध्यम या दीर्घावधि में आप क्या प्राप्त करना चाहते हैं
- उन कथित जरूरतों को पूरा करने के लिए समुचित प्रशिक्षण और विकास गतिविधियों का चयन करना ताकि आप अपने लक्ष्य (यों) तक पहुँच सकें।
- कौशलों और अभ्यास पर सोच-विचार करें
- अपने कार्य-प्रदर्शन और क्षमताओं की समीक्षा करें
- यह सुनिश्चित करने के लिए एक कार्यवाही योजना (निर्दिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों के साथ) बनाएं कि आप सफल हों।

तय करें कि आप कहाँ तक पहुँच गए हैं और अपनी आकांक्षाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित करें: किसी भी विकास गतिविधि का प्रयोजन पहचाना जाना चाहिए। ऐसा आप स्वयं या अपने प्रबंधक, सलाहकार, सहकर्मियों या मित्रों की मदद से कर सकते हैं। इसमें शामिल है:इस बात का पता लगाना कि आप किस चीज में पारंगत हैं और दिलचस्पी/रूचि रखते हैं। संगठनात्मक (विद्यालय की) वास्तविकताओं और किसी भी संभावित चुनौती को ध्यान में रखना। सुनिश्चित करना कि आपकी योजनाएं आपके विद्यालय की जरूरतों को पूरा करती हैं।

विकास की जरूरतों को पहचानें: आपकी विकास की जरूरतों की पहचान आपके कार्यों या दायित्वों, आपके प्रबंधक या सहकर्मियों के साथ चर्चाओं, आपके विद्यालय, शिक्षकों या छात्रों की जरूरतों में परिवर्तनों, या कुछ औपचारिक समीक्षा प्रक्रिया के माध्यम से उभर सकती है। आपके कौशलों का संरचित ढंग से आकलन करने में आपकी मदद करने के लिए साधन, जैसे स्व-आकलन परीक्षाएं, उपलब्ध हो सकते हैं। आपके विकास कीअधिकांश जरूरतें आपके वर्तमान कर्तव्यों और दायित्वों के साथ संबद्ध होंगी, हालांकि किसी पदोन्नति के लिए आपके लिए जरूरी किसी भी विकास पर विचार करना हमेशा उपयोगी होगा।

सीखने के अवसरों की पहचान करें: उपरोक्त एक या कई आकलन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप आपको उन कौशलों या जानकारी की एक सूची बनानी चाहिए जिन्हें आप प्राप्त करना, अद्यतित करना या सुधारना चाहते हैं। इस सूची की तुलना अपने वर्तमान कौशलों और ज्ञान के मूलाधार से करें, तथा किसी भी कमी की पहचान करें।

कार्यवाही योजना का सूत्रीकरण करें: आपके द्वारा पहचाने गई कौशलों और ज्ञान की प्रत्येक कमी के लिए, अपने लिए विकास के लक्ष्य निर्धारित करें। उनमें चुनौती का एक तत्व होना चाहिए ताकि वे आपकी क्षमताओं का अधिकतम उपयोग कर सकें। लेकिन उनको एक यथार्थवादी समय सीमा के भीतर साध्य और ग्राह्य होना चाहिए।

विकास का बीड़ा उठाएं: स्थानीय शिक्षा प्राधिकारियों में प्रमुख पदाधिकारियों के साथ चर्चा कर लेने के बाद अपनी योजना को कार्यान्वित करें। आप क्या करते हैं और आप इसे कैसे करते हैं इसका चुनाव आपको करना चाहिए। प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के अलावा, विकल्पों में वर्क शेडोइंग (किसी अन्य विद्यालय प्रमुख का उसकी दैनिक दिनचर्या में अनुसरण करना, सेकंडमेंट (नए कौशल सीखने के प्रयोजन से कोई अन्य भूमिका लेने की औपचारिक व्यवस्था), प्रॉजेक्ट वर्क, नेटवर्किंग और सामुदायिक सहभागिता शामिल है।

परिणामों को दर्ज करें: रिकार्ड रखकर आप स्वयं – और अन्य लोगों जैसे स्थानीय शिक्षा प्राधिकारियों को – याद दिला सकते हैं कि आपने क्या किया है। सबसे महत्वपूर्ण रूप से, आपके रिकार्ड आपको अपनी विकास की गतिविधि से जो कुछ मिला है उस पर ध्यान केंद्रित करने में मदद करेंगे। तारीख, विकास की पहचानी गई जरूरत, उन जरूरतों को पूरा करने के लिए चुनी गई पद्धति, पीडीपी को शुरू करने की तारीख(खें), परिणाम, और कोई भी आवश्यक आगे की कार्यवाहियाँ दर्ज करें।

निगरानी, मूल्यांकन और समीक्षा करें: मूल्यांकन आत्म-विकास चक्र की एक महत्वपूर्ण अवस्था है। आपको दो मुद्दों पर विचार करना चाहिए: क्या आपके द्वारा शुरू की गई विकास

गतिविधि उपयुक्त थी और इसके परिणामस्वरूप क्या आपके कौशल या काम करने का व्यवहार में सुधार हुआ है और यदि ऐसा हुआ है तो कैसे।

आपके विकास के लक्ष्य सावधानी से नियोजित, संक्षिप्त और प्राप्त करने योग्य हैं। हालांकि एक सु-संरचित लक्ष्य आवश्यक रूप से यह आश्वासन नहीं देता कि उसे प्राप्त किया जाएगा, यह एक अच्छी शुरूआत है, क्योंकि इसमें वे प्रमुख पहलू होते हैं जो आपको इसे संभव करने के लिए उत्तेजित करते हैं। अच्छे लक्ष्य लिखने के अनुशासन का प्रयोग पीडीपी से परे कई संदर्भों में किया जा सकता है। अच्छे लक्ष्य के प्रमुख पहलुओं का वर्णन करने के लिए एक अत्यंत लोकप्रिय परिवर्णी शब्द है 'SMART', जिसका अर्थ है:

- विशिष्ट (**S**pecific)
- मापन योग्य (**M**easurable)
- साध्य (**A**chievable)
- यथार्थवादी (**R**ealistic)
- समयबद्ध (**T**imely) (or time-bound)।

वे तय लक्ष्य जिन्हें आप एक विद्यालय प्रमुख के रूप में प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। इसका मतलब आवश्यक रूप से यह नहीं है कि आपको लक्ष्य(यों) से संबद्ध सभी कार्य शुरू करने होंगे। यह महत्वपूर्ण है कि वे स्पष्ट हैं और प्रक्रियाओं से संबद्ध हर व्यक्ति द्वारा समझे जा चुके हैं; यदि हाँ, तो इससे उनका सफल क्रियान्वयन संभव होगा।

यह महत्वपूर्ण है कि आपके पास स्पष्ट और मापन योग्य संकेतक (Indicator) हैं, क्योंकि वे इस पहल की सफलता की परिभाषा प्रदान करते हैं। साध्य और यथार्थवादी लक्ष्य लोगों को संलिप्त और प्रेरित करते हैं। आप जब आपके लक्ष्य अयथार्थवादी लगते हैं, तब आप स्वयं और अन्य लोगों पर अत्यधिक दबाव डालते हैं। इससे लोगों की प्रतिबद्धता के स्तर या उन्हें पूरा करने की क्षमता पर प्रारंभ करने वाला प्रभाव हो सकता है। यह महत्वपूर्ण है कि स्पष्ट समय संकेतक निर्धारित किए जाएं ताकि हर व्यक्ति जान सके कि किस समय तक कोई लक्ष्य प्राप्त किया जाना है – या, यदि उसके प्राप्त किए जाने की संभावना नहीं है, तो क्या किसी प्रतिकूल मुद्दे को संबोधित करने के लिए कोई उपाय किए जा सकते हैं।

अब कुछ प्रमुख कार्यवाही क्रियाओं को देखें जो SMART लक्ष्यों की रचना करने में मदद कर सकते हैं।

1. **विशिष्ट (Specific)**

विशिष्ट होने के लिए लक्ष्य को एक निश्चित या विशिष्ट बर्ताव, उपलब्धि या परिणाम के विवरण से युक्त होना चाहिए। यदि उसे किसी प्रतिशत, आवृति, दर या संख्या से संबंधित किया जा सके तो भी वह उपयोगी होता है। विशिष्टता बढ़ाने के लिए, लक्ष्य(यों) को पूरा करने के लिए की जाने वाली कार्यवाहियों का वर्णन करने के लिए कार्यवाही पर केंद्रित क्रियाओं का उपयोग करें।कार्यवाही क्रियाओं में शामिल हैं 'बनाना', 'विकसित करना', 'परिकल्पना करना', 'विश्लेषण करना', 'निष्पादन करना', 'बदलना', 'संशोधित करना', 'पहचानना', 'तैयार करना'।

2. **मापन योग्य (Measurable)**

यह सुनिश्चित करना कि आपका लक्ष्य मापन योग्य है अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि वह आपको बतलाता है कि आपने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है या नहीं। आप एक डेटा संग्रह **के साधन** के माध्यम से प्रमाण एकत्र करेंगे (बर्तावों का प्रेक्षण, ट्रैकिंग और रिकार्ड करना, प्रश्न पूछना आदि) या प्रदेश के प्राधिकरण द्वारा आपके विद्यालय में आवश्यक की गई पूर्वपरिभाषित प्रणाली याविधि का उपयोग करके प्रमाण एकत्र करेंगे। आपके लक्ष्य का मापन करने के लिए किए गए साधन को आपकी सफलता के दावों का समर्थन करने के लिए आवश्यक प्रमाण उत्पन्न करने में आपकी मदद करना चाहिए। आपको निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करना चाहिए:

- मुझे कैसे पता चलेगा कि परिवर्तन हो गया है?
- ये मापन कैसे प्राप्त किए जा सकते हैं?

3. **साध्य (Achievable) :** कोई लक्ष्य साध्य है यदि:

- यदि आप जानते हैं कि वह मापन योग्य है और आप उसके प्रभाव का प्रमाण एकत्र कर सकते हैं
- अन्य लोग उसे पहले भी कर चुके हैं, यानी, सैद्धांतिक रूप से, उसे पूरा करना संभव है
- सीमाओं और कठिनाईयों पर सावधानी से विचार किया गया है।

किसी भी ऐसे उद्देश्य को निर्धारित करना ठीक नहीं है जो ऐसे संसाधनों पर अत्यधिक निर्भर है जो आसानी से उपलब्ध नहीं हैं या जिन्हें प्राप्त करना निकट भविष्य में कठिन हो सकता है। यदि लक्ष्य की प्राप्ति की जानी है तो इस जोखिम का प्रबंधन सावधानी से किया जाना होगा।

4. यथार्थवादी (Realistic)

कोई लक्ष्य साध्य है या नहीं इसका संबंध इस बात से बहुत ही धनिष्ट है कि वह लक्ष्य यथार्थवादी हो। लक्ष्यों को यथार्थवादी होना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है कि उन्हें आसान होना चाहिए। साध्य करने में कठिन लक्ष्य तय किए जा सकते हैं, लेकिन इस हद तक नहीं कि सफलता की संभावना ही कम हो जाय। यथार्थवादी लक्ष्य उपलब्ध संसाधनों को ध्यान में रखते हैं जैसे आवश्यक कौशल, आर्थिक संसाधन, उपकरण, प्रौद्योगिकी इत्यादि। आपको विचार करना चाहिए कि क्या:

- लक्ष्य को प्राप्त करना संभव है
- लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संसाधन उपलब्ध हैं।

5. सामयिक (या समय-बद्ध) Timely or Time Bound

लक्ष्य के लिए अंतिम तारीख तय करना यह सुनिश्चित करता है कि वह मापन योग्य है। चूंकि आप यह निश्चित करने के लिए कि आपने लक्ष्य पूरा किया है या नहीं किसी निर्दिष्ट समय पर प्रमाण एकत्र करेंगे, इसलिए यह आवश्यक है कि आप निर्दिष्ट करें कि आप लक्ष्य को कब तक पूरा किए जाने की अपेक्षा करते हैं। अंतिम तारीख बनाने में भी मदद करती है, कार्यवाही को प्रेरित करती है और उन लोगों के मन को भी संकेंद्रित करती है जो काम के लिए उत्तरदायी हैं।

Unit 2.3 एक शिक्षक के रूप में रचनात्मक पहचान का विकास करना

शिक्षण वास्तव में एक तकनीक ही है प्रायः देखा गया है कि किसी विद्यालय में कोई शिक्षक बहूत ही लोकप्रिय होते है तो कोई खास प्रभावी नही होते इन सबके पीछे यदि गौर से देखे तो हम पाते की ये सब शिक्षक के शिक्षण के प्रभाव का परिणाम है

ऐसा भी पाया गया कि एक विद्यालय के एक ही विषय के दो शिक्षक होने की स्तिथि में एक शिक्षक विद्याथियों को अधिक प्रिय होता है इसके पीछे की मुख्य वजह शिक्षक का शिक्षण प्रक्रिया के दौरान कक्षा में विद्यार्थियों पर छोड़ा गया प्रभाव है प्रभावी शिक्षण से ही कोई शिक्षक में लोकप्रिय बन पाता है इससे ही विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास का प्रादुर्भाव होता है क्लार्क के अनुसार," शिक्षण वह प्रक्रिया है जो शिक्षार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए नियोजित तथा संचालित की जाती है|" शिक्षक यह सुनिश्चित करने के लिए जिम्मेदार हैं कि सभी विद्यार्थियों को सीखने में पूरी तरह से भाग लेने के लिए अवसर और सहायता मिले। ऐसा तभी संभव होगा यदि संसाधनों का प्रबंधन प्रभावी ढंग से और सीखने की प्रक्रिया को सुधारने केस्पष्ट प्रयोजन के साथ किया जाय शिक्षक को विद्यालयी संसाधन के रूप में मानव संसाधन जैसे साथी शिक्षक, अन्य स्टाफ, विद्यार्थी, माता पिता और समुदाय,शाला प्रबंधन समिति के सदस्यो में सक्रिय व सकारात्मक समन्वय हो जो सीखने का समर्थन करने के लिए कौशलों और ज्ञान का योगदान कर सके।विषय वस्तु के प्रत्येक बिंदुओं कोविद्यार्थी तक पहुंचाने के लिए बाल मनोविज्ञान की परख करके शिक्षण कार्य किया जाना चाहिए।विषय को बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करना शिक्षक की महत्वपूर्ण विशेषता है।n शिक्षणएवं अध्ययन की क्रिया में बहुत से कारक शामिल होते हैं। विद्यार्थी जिस तरीके से अपनेलक्ष्यों की ओर बढ़ते हुए नया ज्ञान, आचार और कौशल को समाहित करता है जिससेउसके सीखने की शक्ति में विस्तार हो सके, सभी कारक आपस में अन्तरसम्बन्धी होते है पिछली सदी के दौरान शिक्षण पर विभिन्न किस्म के दृष्टिकोण उभरे हैं। इनमें एक है ज्ञानात्मक शिक्षण, जो शिक्षण को मस्तिष्क की एक क्रिया के रूप में देखता है। दूसरा है, रचनात्मक शिक्षण जो ज्ञान को सीखने की प्रक्रिया में की गई रचना के रूप में देखता है। वास्तव में ये पृथक पृथक नही है बल्कि इन्हें संभावनाओं की एक ऐसी श्रृंखला के रूप में देखा जाना चाहिए जिन्हें शिक्षण के अनुभवों में पिरोया जा सके। एकीकरण की इसश्रृंखला में दूसरे कारकों को भी संज्ञान में लेना जरूरी हो जाता है- ज्ञानात्मक शैली हमारी तीक्ष्ण बुद्धि का एकाधिक स्वरूप और ऐसा शिक्षण जो उन विद्यार्थियों के काम आ सके जिन्हें इसकी विशेष जरूरत है और जो अलग अलग पारिवारिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आते हैं।

रचनात्मकता शिक्षण की एक ऐसी रणनीति है जिसमें विद्यार्थी के पूर्व ज्ञान, आस्थाओं और कौशल का इस्तेमाल किया जाता है। रचनात्मक रणनीति के माध्यम से विद्यार्थी अपने पूर्व ज्ञान और सूचना के आधार पर नई किस्म की समझ विकसित करता है।इसमें विद्यार्थियों को स्वयं जबाब खोजने के अधिक अवसर मिलते है शिक्षक विद्यार्थियों के जवाब तलाशने की प्रक्रिया का निरीक्षण करता है, उन्हें निर्देशित करता है तथा सोचने-

समझने के नए तरीकों का सूत्रपात करता है धीरे-धीरे छात्र यह समझने लगता है कि शिक्षण दरअसल एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। इस किस्म की शैली हर उम्र के छात्रों के लिए कारगर है। शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को सहज,सरल,तथा सक्षम बनाने के लिए नवीन पद्धतियों को अपनाना आवश्यक है जिनमे से कुछ इस प्रकार हो सकती है

1. स्थानीय परिवेश के अनुसार अनुकूलन

यदि शिक्षक को शिक्षण प्रभावी बनाना है जो पहले उसे खुद को स्थानीय परिवेश में समाहित करना होगा जिससे वह वहाँ की भाषा, बोली और व्यवहार के तौर तरीके समझ सके क्योकि प्रारंभिक शिक्षा में मानक भाषा की जगह स्थानीय बोली अधिक प्रभावी होती है और इससे विद्यार्थियों की समझ का अधिक विकास भी होता है साथ ही शिक्षक यदि कोई कहानी,चुटकला आदि सुनता है तो बच्चों को समझ मे भी आ जाता है जिससे छात्र शिक्षक के बीच की समझ बढ़ती है

2. विद्यार्थियों की सांस्कृतिक पारिवारिक परिस्थितियों का ज्ञान

अच्छे शिक्षण के लिए जरूरी है कि शिक्षक विद्यार्थियों के पारिवारिक और सांस्कृतिक माहौल की पूरी जानकारी रखे इसका एक उदाहरण देखा गया एक शिक्षक ने छात्र द्वारा गृहकार्य करके न लाने पर उसे डांट दिया जिससे छात्र ने विद्यालय आना ही बंद कर दिया जब उसके घर जाकर पता किया तो पता चला कि उसकी मां कुछ दिनों से बीमार थी तो उसको घर का काम करना पड़ता था जिस कारण वह गृहकार्य नही कर पाया था यदि शिक्षक पूर्व से उसकी परिस्थितियों से परिचित होता तो ये स्तिथि निर्मित न होती।

3. स्थानीय TLM

शिक्षकों को चाहिए कि प्रभाबी शिक्षण के लिए वो स्थानीय सामग्री से ही सहायक शिक्षण सामग्री का निर्माण करे क्योंकि छात्र इससे परिचय भी होते है तो ये ज्यादा प्रभाव डालती है

4. उचित समूह निर्माण

प्रभाबी शिक्षण हेतु जरूरी है कि शिक्षक कक्षा में ऐसे समूह बनाये जिसमे सभी स्तर के छात्र सम्मिलित हो और सभी को उचित अवसर भी मिलना सुनिश्चित हो।

शिक्षक ही विद्यालय तथा शिक्षा पद्धति की प्रमुख गत्यात्मक शक्ति है। पर यह भी सत्य है कि विद्यालय भवन, पाठ्यक्रम, पाठ्यक्रम सहभागी क्रियाएं, निर्देशन आदि सभी वस्तुएं शैक्षिक कार्यक्रम में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। किन्तु जब तक उनको अच्छे शिक्षकों द्वारा जीवन शक्ति प्रदान नहीं की जायेगी तब तक वे निरर्थक रहेंगी। शिक्षक ही वह शक्ति हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आने वाली सन्ततियों पर अपना प्रभाव डालती है। अतः कहा जा सकता है कि मानव समाज एवं देश की उन्नति उत्तम शिक्षकों पर ही

निर्भर है। शिक्षक का जीवन मर्यादा एवं सच्चरित्रता की बालू, सीमेन्ट व ईंट से बना होता है। अपने कार्यों के प्रति जागरूकता, कड़ी मेहनत एवं मधुर सम्भाषण अध्यापक का स्तर उठाने में सहायक होते हैं। छात्र ऐसे शिक्षक को अपना आदर्श बनाकर जीवन की सफलता की सीढि की शक्ति रखने और उसके साथ उचित रूप से कार्य करने की इच्छाशक्ति आदि गुणों से सम्पन्न होने की आशा की जाती है। ऐसे गुण सामान्यतः न तो प्रत्येक शिक्षक में मिलते हैं और न शिक्षण प्रत्येक व्यक्ति का कार्य ही है। वस्तुतः यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जिसके कुछविशिष्ट शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक संवेगात्मक गुण हों। शिक्षण एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसमें मस्तिष्क का मस्तिष्क से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस सम्बन्ध की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता बहुत कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के डा.एफ.एल. क्लैप ने एक अध्ययन किया जिसके आधार पर उन्होंने अच्छे शिक्षक के व्यक्तित्व के निम्न दस गुणों का उल्लेख किया है–

1. सम्बोधन
2. आशावादिता
3. उत्साह
4. वैयक्तिक आकृति
5. संयम
6. मानसिक निष्पक्षता
7. शुभ चिन्तन
8. सहानुभूति
9. जीवन शक्ति
10. विद्वता

उपर्युक्त गुण अध्यापन प्रक्रिया में अध्यापक के महत्वपूर्ण स्थान को बताते हैं। शिक्षण प्रक्रिया में चरित्रवान, योग्य अनुभवी अध्यापकों के अभाव में विद्यालय का भवन, छात्र–सहायक सामग्री आदि अनेक उपकरण व्यर्थ हैं।

शिक्षक के तकनीकी गुण वर्तमान संदर्भ में मानव का महत्वपूर्ण योगदान तकनीकी है। आज प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रयोग किया जा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में यह एक क्रांति है। इसका प्रयोग शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर किया जा रहा है। प्रौद्योगिकी के विकास से आज शिक्षक और छात्र के पास पुस्तक के अतिरिक्त अनेक प्रकार की शिक्षण सामग्री जैसे कम्प्यूटर, सी.डी., पैन ड्राईव, मैमोरी कार्ड इत्यादि उपलब्ध हो गये हैं। इन सभी साधनों का प्रयोग शिक्षक और छात्र सामूहिक एवं अलग–अलग रूप से कर रहे हैं।

Unit 2.4 शिक्षक की 'पेशेवर पहचान'

प्रोफेशनल (पेशेवर) किसी व्यवसाय का एक ऐसा सदस्य होता है जिसे विशिष्ट शैक्षणिक प्रशिक्षण के आधार पर चुना जाता है। जो कि अपनी बुद्धि का उपयोग कर आय कमाते है;जैसे-डॉक्टर,इंजीनियर,चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट, वकील आदि। ये व्यक्ति अपनी सेवा प्रदान कर आय कमाते है।

पारंपरिक रूप से प्रोफेशनल शब्द का मतलब है वह व्यक्ति जिसने किसी व्यावसायिक क्षेत्र में एक डिग्री प्राप्त की है। प्रोफेशनल शब्द का इस्तेमाल सामान्यतः सफेदपोश स्तर पर काम करने वाले व्यक्तियों के लिए किया जाता है, या उन व्यक्तियों के लिए जो सामान्यतः शौकिया तौर पर काम करने वालों के लिए आरक्षित क्षेत्रों में व्यावसायिक तौर पर काम करते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे पश्चिमी देशों में यह शब्द सामान्यतः उच्च-स्तरीय शिक्षा-प्राप्त और वेतनभोगी कर्मियों को वर्णित करता है जो अपने काम में काफी स्वायत्तत तथा एक बेहतर वेतन का लाभ उठाते हैं और आम तौर पर रचनात्मक एवं बौद्धिक रूप से चुनौतीपूर्ण कार्य में संलग्न रहते हैं। कम तकनीकी दृष्टि से इसका संदर्भ किसी विशेष गतिविधि के लिए काफी उच्च क्षमतावान व्यक्ति से भी हो सकता है।

कई पेशेवर सेवाओं की निजी और गोपनीय प्रकृति और इस तरह उनमें अधिक से अधिक विश्वास पैदा करने की जरुरत के कारण ज्यादातर पेशेवर लोग सख्त नैतिक और न्यायसंगत नियमों का पालन करते हैं।

पेशेवर के लिए मुख्य मापदंडों में निम्नलिखित शामिल हैं:

1. एक पेशेवर वह व्यक्ति है जिसे उसके काम के लिए भुगतान किया जाता है। एक पेशेवर होने के लिए योग्यताएं ज्यादा मायने नहीं रखती हैं क्योंकि दुनिया का "सबसे पुराना पेशा" सही मायनों में एक पैसे कमाने वाला करियर है। एक शौकिया व्यक्ति एक पेशेवर की तुलना में अधिक योग्य हो सकता है लेकिन उसे पैसे नहीं दिए जाते, इसीलिये वह शौकिया ही रह जाता है।
2. किसी क्षेत्र में विशेषज्ञ और विशिष्ट ज्ञान जिसका व्यक्ति पेशेवराना तौर पर उपयोग करता है।
3. व्यवसाय के संदर्भ में बेहतरीन मैनुअल/व्यावहारिक और साहित्यिक योग्यताएं.
4. इन क्षेत्रों में उच्च गुणवत्ता का कार्य: रचना, उत्पाद, सेवाएं, प्रस्तुतियाँ, परामर्श, प्राथमिक/अन्य शोधकार्य, प्रशासनिक, मार्केटिंग या अन्य कायों से संबंधित प्रयास.
5. अपने पेशेवराना दायित्व (एक कर्मचारी, स्वरोजगार व्यक्ति, कैरियर, उद्यम, व्यापार, कंपनी, या साझेदारी/सहयोगी/सहकर्मी आदि के रूप में) का निर्वाह करते समय व्यावसायिक नैतिकता, व्यवहार और कार्य संबंधी गतिविधियों का एक उच्च-स्तरीय मानक कायम रखना. एक पेशेवर की जिम्मेदारी अपने ग्राहक के प्रति अधिक होती है जिसमें अक्सर गोपनीयता का एक विशेषाधिकार भी शामिल होता है और साथ ही उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अपने ग्राहक को मात्र उसका भुगतान करने में असमर्थ होने की वजह से नहीं छोड़ेगा. पेशेवर को अक्सर ग्राहक के हितों को अपने स्वयं के हितों से आगे रखupने की जरूरत होती है।
6. कार्य की यथोचित नैतिकता और प्रेरणा. व्यवसाय के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाते हुए किसी कार्य को अच्छी तरह पूरा करने की दिलचस्पी और इच्छा, उच्च-स्तरीय पेशेवराना अंदाज हासिल करने के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं।
7. लाभ या आजीविका के लिए एक ऐसी गतिविधि या प्रयास के क्षेत्र में भाग लेना जिसमें अक्सर शौक़ीन लोग शामिल होते हैं; किसी विशेष पेशे को एक स्थायी कैरियर के रूप में अपनाना; वित्तीय लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा नियोजित.
8. सहकर्मियों के साथ अनुचित व्यवहार और संबंध. विशेष लोगों और प्रशिक्षुओं के प्रति विशेष सम्मान का प्रदर्शन किया जाना चाहिए. अपने व्यवसाय की प्रवृत्ति को बनाए

रखने के लिए इसे नुकसान पहुँचाये बगैर अनिवार्य रूप से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाना चाहिए.

9. पेशेवर पोशाक - ढ़ीली पतलून, लंबी-आस्तीन और नीचे बटन वाली शर्ट, टाई, ड्रेस के जूते आदि.

10. पेशेवर एक विशेषज्ञ होता है जो किसी विशिष्ट क्षेत्र में निपुण होता है।

शिक्षक की स्वायत्तता एवं पेशेवर स्वतंत्रता – शैक्षणिक वातावरण निर्माण के लिए शिक्षक की स्वायत्तता एक मूलभूत शर्त है। शिक्षक बच्चों की विविधतापूर्ण आवश्यकताओं को संबोधित करते समय इस स्वायत्तता का बेहतर उपयोग कर सकें, इसके लिए शिक्षक को समुचित स्वतंत्रता की भी आवश्यकता होगी। जितनी आजादी, इज्जत और लचीलापनशिक्षार्थी को चाहिए उसके समानुपातिक शिक्षक को भी यह सब चाहिए। वर्तमान में प्रशासनिक ऊंच–नीच एवं नियंत्रण, परीक्षाएं, पाठ्यचर्या सुधार का केन्द्रीकृत नियोजन ये सभी शिक्षक की स्वायत्तता पर अनेक प्रतिबंध लगाते हैं। कहीं पाठ्यचर्या में खुलेपन का अवसर मिलता भी है तो भी शिक्षक इतने आत्मविश्वासी नहीं हो पाते कि वे अपनी स्वायत्तता का ऐसे उपयोग कर लें कि प्रशासन भी अलग तरह से काम करने के कारण खफा न हों। स्वायत्तता के साथ समानुपातिक जवाबदेही भी संलग्न होती है। जहां कक्षा में एक लोकतांत्रिक, नम्य और स्वीकृति देने वाली संस्कृति को पोषण देने की जरूरत है, वहीं स्कूल की संस्था और कार्यालयी संरचनाओं द्वारा भी ऐसी ही संस्कृति को बशिक्षक न केवल आदेश एवं सूचनाएं वे प्राप्त करें वरन उच्च स्तर पर निर्णय लेते समय शिक्षकों की आवाजें भी सुनी जाएं, जिनसे कक्षा का तात्कालिक जीवन और स्कूल की संस्कृति प्रभावित होती है। शिक्षकों एवं प्रधानाध्यापकों, शिक्षकों एवं प्रशासकों के आपसी रिश्ते समानता एवं पारस्परिक सम्मान पर आधारित होने चाहिए और विद्यालयों के बारे में निर्णय बातचीत एवं चर्चा करके लिए जाने चाहिए। गतिविधियों के वार्षिक, मासिक एवं साप्ताहिक कैलण्डर/कार्य योजना में समीक्षा और योजना के लिए शिक्षकों के पारस्परिक संपर्क/संवाद की व्यवस्था होनी चाहिए। एक ऐसे वातावरण के विकास की जरूरत है जिसमें शिक्षकों में मिलजुल कर काम करने की भावना का विकास हो।

सारांश

इस इकाई में आपने देखा कि विद्यालय शिक्षक के रूप में अपने समय का उत्पादक और प्रभावी उपयोग कैसे करना चाहिए, जो आपको अपने खुद के समय का प्रबंधन करने की दृष्टि से कार्यवाही करने या अन्य लोगों को प्रत्यायोजित करने के लिए प्रेरित करता है। हर व्यक्ति के

लिए निजी और व्यावसायिक विकास का महत्व होता है और उसकी योजना सावधानी से बनाई जानी चाहिए और उस पर कार्यवाही की जानी चाहिए। आपने देखा कि पीडीपी और SMART का उपयोग आपकी प्रक्रिया के हिस्से के रूप में कैसे करना चाहिए। विद्यालय प्रमुख के रूप में, आपको अपने अभ्यास को अद्यतित (Update) करने और सुधारने के लिए लगातार प्रयास करना चाहिए; इसके बदले में आपका स्टाफ अपने स्वयं के विकास को सक्रिय रूप से करने के लिए बाध्य होगा – ऐसे विद्यालय का निर्माण करना जहाँ अद्यतन करना और नवीनीकरण करना एक सतत प्रक्रिया है।

सन्दर्भ

1. जी.एच.मीड (1934), माइंड, सेल्फ़ ऐंड सोसाइटी, शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.

2. एच.एम. जानसन (1963), सोसियोलॅजी : अ सिस्टमेटिक इंट्रोडक्शन, रॉटलेज ऐंड कीगन पाल, लंदन.

3. के. डेविस (1960), ह्यूमन सोसाइटी, मैकमिलन, न्यूयॉर्क.

4. पार्संस ऐंड बेल्स (1960), फैमिली सोशलाइजेशन ऐंड इंटरेक्शन प्रासेसेज़, द फ़्री प्रेस, ग्लेनको इलीनॉय.

5. सी.एच. कूले (1922), ह्यूमन नेचर ऐंड द सोशल आर्डर, स्क्रिबनर, न्यूयॉर्क. 6. Morarji desayi (1989), human nature and social studies